वरिवस्यारहस्यम्

:: लेखकद्वय ::

श्री. किशोरीशरण चऊदा

दतिया

श्री. डॉ. योगेश मिश्रा

:: संपादक ::

श्री. डॉ. योगेश मिश्रा

जयपुर

:: प्रकाशक ::

श्री पीताम्बरापीठ संस्कृत परिषद् दतिया (म. प्र.)

वरिवस्यारहस्यम्

:: लेखकद्वय ::

श्री. किशोरीशरण चऊदा

दतिया

श्री. डॉ. योगेश मिश्रा

:: संपादक ::

श्री. डॉ. योगेश मिश्रा

जयपुर

:: प्रकाशक ::

श्री पीताम्बरापीठ संस्कृत परिषद् दतिया (म. प्र.)

प्रकाशक : **श्री पीताम्बरापीठ संस्कृत परिषद्**
दतिया (म. प्र.)

प्रथम संस्करण : सन् १९९१

मूल्य : १०) रुपये

मुद्रक : **रा. का. बेडेकर**
व्यवस्थापक
शिवशक्ति प्रेस प्रा. लि.,
ग्रेट नाग रोड, नागपुर–९

॥ ॐ श्री गुरवे नमः ।

॥ श्री गणेशाय नमः ॥

प्रस्तावना

शाक्तदर्शन आगम निगम सम्मत दर्शन है जो हमारे पूर्वज मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की रहस्यमयी साधना है । वैदिक वाङ्मय में शक्तितत्त्व का निरूपण बडे रहस्यमय ढंग से हुआ है, जिसे दैवी प्रज्ञा सम्पन्न महापुरुष ही समझ सकते हैं, जिन्होंने अपनी योग्यता और श्रद्धा के द्वारा श्री गुरु परम्परा से इसे जाना है । पूज्यपाद इसी परम्परा के महापुरुष हैं जिन्होंने इसे इसके योग्य साधकों पर करुणा करके आगे बढ़ाया है ।

अस्तु, इसी परम्परा में प्राप्त, इसके रहस्यात्मक दर्शन को बताने वाला मूर्धन्य ग्रन्थ **'वरिवस्या-रहस्यम्'** है जो श्रेष्ठ पूजनीय महापुरुष भास्करराय द्वारा श्लोकबद्ध और व्याख्यात हुआ है । उसी को भाव परक हिन्दी टीका सहित इसके अधिकारी बुद्धिमान अपने मातृ परिवार साधक पुरुषों के कल्याणार्थ प्रकाशित किया जा रहा है ।

यह ग्रन्थ पूज्यपाद के पढ़ाने के क्रम में उनके चरणों में बैठकर ही उनके द्वारा पढ़ाये अनुसार ही हिन्दी में अनुवादित करके जैसा समझ में आया लिखा गया था । उसी को उनकी इच्छानुसार प्रकाशित करने का प्रयास किया गया है ।

वस्तुतः हमारे पूज्यपाद इसी सिद्धान्त के अनुभवी महापुरुष थे । जिसके अनुसार उन्होंने पहले पंचोपनिषद आदि तमाम वैदिक एवं तान्त्रिक शास्त्रों की 'शब्दब्रह्म' परक टीकायें कीं जो स्वामी शंकराचार्य के अधूरे काम को पूरा करने वाली है । तथा उसी के अनुसार शास्त्रों की खोज करके अहर्गण पंचांग आदि इसकी साधना को अनेक विद्याओं का संकलन किया और अन्त में यह मूर्धन्य ग्रन्थ श्री विद्या के रहस्य को बतानेवाला पढ़ाया । यह ग्रन्थ उस समय कुछ विशेष कारणों से प्रकाशित नहीं हो सका । अस्तु अब इसे प्रकाशित किया जा रहा है । पुज्यपाद ने अपने पढ़ाने के क्रम में सर्वप्रथम भगवत् गीता, इसके बाद शांकर वेदान्त, योग एवं ललिता सहस्त्रनाम आदि बहुत से ग्रन्थों का पाठ अपनी अध्यापकी में करके हमारे समाज के एक बहुत बडे भाग को कृतार्थ किया है । अस्तु उन सब की जानकारी के लिये एवं उनकी अपनी साधना का रहस्यात्मक विचार भी इस ग्रन्थ के द्वारा स्पष्ट होता है ।

इसकी हिन्दी टीका उनके द्वारा ही लिखाई गई योजना से ही भाव परक उनका प्रसाद रूप ही प्राप्त उसकी श्रेष्ठता का रूप है। इसको समझकर लिखने में यदि कोई कहीं त्रुटि हमारे मातृ परिवार को दिखे तो उसे मेरे अज्ञान का कारण मानकर क्षमा करें तथा सूचित करें तो औचित्य का पालन किया जायेगा।

अस्तु यह ग्रन्थ सिद्धान्त एवं साधन रूप से प्रस्थान त्रयी द्वारा समर्थित विचार है जिसे हम निम्नप्रकार समझते हैं–

मानव जाति की मूल संस्कृति 'वेद' मूलक ही है जो भारतीय मनीषियों का निश्चित सिद्धान्त है। अब तो विश्व के अन्य राष्ट्र भी इसका समर्थन करते हैं।

अतः 'वेद' विद् संज्ञा ने धातु पाठानुसार इस विश्व के नित्य सनातन अखण्ड ज्ञान को कहा है। मानव के मूल पूर्वज ऋषियों ने इसे अपनी योगिक सूक्ष्म दृष्टि से देखकर, एवं अनुभव से सिद्ध करके इसके आनुपूर्वी स्पन्दन रूप मन्त्र संस्थान का जो संकलन किया है उसी को वेद की संज्ञा से जाना जाता है। इसका सम्पूर्ण परिचय तो 'सौनिक चरण व्यूह' ग्रन्थ से समझा जा सकता है परन्तु अपने विषय सन्दर्भ के लिये हमारा कथन है कि इस वैदिक ज्ञान और विज्ञान के अखण्ड नित्य ज्ञान में ही यह सारा विश्व स्पन्दमान हुआ। अपने ज्ञान और विज्ञान सहित समस्त देश, काल, वस्तुओं के अनुभूत रूप में उसी से अनुप्राणित हुआ। हमें अपने होने की सूचना देता है। इसी में यह सारा विश्व नित्य ही प्रवहमान हुआ अपने उदय, स्थिति और लय के परिधानों को बदलता हुआ चल रहा है। अस्तु यह समस्त नाम रूपात्मक भाव हमारे स्वतन्त्र चित्रूप अहंत्यात्मक विमर्श भाव का विजृम्भण मात्र है। जो हमारे मिश्र बिन्दु का नाद तत्व ही पराविद्या त्रिपुर सुन्दरी का स्वरूप है। अस्तु इसे अपने स्वानुभव में जानकर जो अपने अहंकार और इदं रूप सामरस्यमयी का अनुभव कर लेता है वह अमृतत्व को प्राप्त पुरुष पहले अपने लौकिक जीवन का श्रृंगार करता है जिससे लौकिक सुखों को अनासक्त भाव से भोगता हुआ लोक कल्याण सिद्ध करता है तथा इस जीवन मुक्ति के आनन्द के पश्चात अपने सामरस्य में सदा के लिये बैठकर चिर शान्ति पाता है।

अस्तु यह 'शब्द ब्रह्म' की साधना हमारे नित्य प्राप्त आत्मतत्व की ही प्राप्ति की अनुभूति का साधन है। जैसा कि श्रुतिवचन है–'शब्द ब्रह्मणि निष्णाता परब्रह्मणि वर्तते'। अस्तु इस शब्द ब्रह्म की साधना के मूर्धन्य विचार और दिव्य आचार साधन का बताने वाला यह 'वरिवस्यारहस्य' ग्रन्थ है जो वैदिक आगमिक एवं धार्मिक भावों से समर्थित गीता, उपनिषद एवं ब्रह्मसूत्र रूप प्रस्थानत्रयी से समर्थित दर्शन और साधन का बतानेवाला निबन्ध है।

इस ग्रन्थ ने बताया है कि सारी विद्याओं का सार वेद है तथा वेद का सार गायत्री विद्या है जो सर्वसाधारण को यज्ञोपवीत संस्कार के द्वारा दी जाती है तथा इसी गायत्री का उत्कृष्ट रूप जो 'परोरजसे सावदोय' के संकेत से बताया जाता है वह यही श्री विद्या है।

अस्तु इस गोपनीय विद्या को जिसको वेद भी स्पष्ट न बताते हुये प्रतीकात्मक ढंग से सूधी जनों के लिये उनके लोक हितार्थ बताते हैं उसके साधन और साध्य सम्बन्धी दर्शन का भली भाँति उद्घाटन किया है।

यह ग्रन्थ दो भागों में लिखा गया है। इसके पहले भाग में इसका स्वरूप परिचय एवं समष्टि के साथ इसकी अभिन्नता का प्रतिपादन करके साधक को इसकी साधना का प्रकार समझाया गया है कि इसकी साधना के दिव्य कर्म को इसके स्वरूप में अनन्यता का चिन्तन की भावना करते हुये करनी चाहिये। इससे उसे अपने लौकिक जीवन का समृद्धकारी रूप उपलब्ध होगा और साथ ही अपनी जीवनमुक्ति का भी अनुभव होगा। इस प्रकार यह श्री विद्या भुक्ति मुक्ति की उभयकरी साधना हैं जो उसे अपने प्राप्त ब्रह्मत्व सहज भाव में अनुभूत होगी, फिर उसके लिये 'तस्य कार्यम् न विद्यते'। (गीता) के अनुसार कोई कर्तव्य शेष नहीं रहेगा और लोक संग्रह कर्म स्वयं ही उससे घटित होगा।

दूसरे अध्याय में इस विद्या मन्त्र का अर्थ वर्णित है। इसके इसमें पन्द्रह अर्थ करके उनकी उपयोगिता और भावना से मानव के समस्त अभीष्टों की सिद्धि समझाई है।

अस्तु यह एक स्वरूपाद्वैत का सिद्धान्त है- अभी तक प्रचलित अद्वैत मतों से शंकराद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत, केवलाद्वैत एवं शाक्ताद्वैत, या स्वरूपाद्वैत है। इसमें शाक्ताद्वैत या स्वरूपाद्वैत एक दर्शन के दो नाम कहना चाहिये। यह हमारे आध्यात्मिक विकास परम्परा की अन्तिम कड़ी है। इसमें द्वैत मत का खण्डन करके सभी अद्वैत मतों का समन्वय किया गया है। इसके अनुसार विश्व के चित् और अचित् यानी चेतन और जड़ दोनों उस एक अद्वैत महाशक्ति सत्य के व्यापार मात्र हैं। इसमें चित् भी सत् है तथा अचित् भी सत है दोनों एक अभिन्न सत्ता के भाव हैं जो इनसे अभिन्न होते हुये भी इनसे परे हैं।

शक्ति तत्व के ही ब्रह्म, परमात्मा, परमेश्वर पुरुषोत्तम आदि पुरुष वाचक एवं उमा, हैमवती, दुर्गा, काली आदि स्त्रीवाचक या नपुंसक लिंग वाचक नाम हैं, क्योंकि उसका कोई लिंग नहीं है जैसा कि 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् का कथन है– "त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार इतं वा कुमारी" आदि शब्दों द्वारा बताया गया है।

प्रकृति पुरुष दो होने पर भी उभय कार्य जननी सत्ता एक ही है जैसे तुष और तण्डुल दोनों का समिश्र भाव ही धान की संज्ञा से कहा जाता है। अस्तुः

वस्तु में जो कार्योत्पादन उपयोगी अपृथक सिद्ध धर्म विशेष है वही शक्ति तत्त्व है। अतः इसमें जैसे केवल तुष या तण्डुल में अंकुर उत्पादन की शक्ति नही होती अपितु दोनों मिलकर ही होती है इसी प्रकार एक सत्ता की दृष्टि से उसे " एकमेवाद्वितीयं " कहा गया है, अथवा 'यतो वा इमानि भूतानि' आदि कहा गया हैं।

शक्ति तत्त्व की उपासना भारत वर्ष में उतनी ही पुरानी है जितना कि स्वयं भारतवर्ष है। एवं समस्त साधनाओं की कुन्जी तन्त्र को बतलाया गया है, माना गया है जिसका अर्थ ही है 'तनयति विस्तारयति ज्ञानम् इति तन्त्रम्'। इसी बात को हमारे पूज्यपाद ने अपने लेखमाला में समझाया है कि 'जैमिनी सूत्र–आख्या प्रवचनात्' के अनुसार यही आगमोक्त विचार निगम का ही सिद्धान्त है।

अस्तु यह अत्यन्त गुह्य विद्या है जिसका सम्पूर्ण रहस्य विषयज्ञाता गुरु से ही ग्रहण किया जा सकता है अन्य प्रकार से नहीं। इस ग्रन्थ में इसके विषय में बताया है कि जो व्यक्ति अपने पाण्डित्य के बल से इस ग्रन्थ का अर्थ लगाकर इसकी साधना करते हैं उन्हें पाप लगता है जैसे स्वयं की जन्य कन्या उसके लिये भोग्य नहीं होती अपितु ऐसी बुद्धि वाला पापी माना जाता है। ऐसे ही स्वयं सीखकर जो इसे करना चाहता है उसे पतित होना पड़ता हैं तथा उनमें योगिनियाँ उनके अन्दर विकार पैदा करके मार देती हैं। (श्लोक १६५) यह नियम दीक्षित यानी इस विद्या के दीक्षित साधकों पर नहीं लागू होता है।

अस्तु हमें केवल बाह्यपूजन पाण्डित्य के बल पर नहीं चलना चाहिये जिसका ही परिणाम सोमनाथ की चक्रोपासना का विभत्स रूप है। जिसके कारण देश में यवनों का प्रवेश हुआ और आज तक हम अपनी स्वतन्त्रता को अपने स्वराज्य में नहीं स्थापित कर सके। यह इसका निष्कंटक मार्ग नहीं है। यही कारण हैं कि हमारे पूर्वज इस विद्या के दृष्टा ऋषियों ने इससे अत्यन्त गोपनीयतर रूप में माना है तथा ऐसा ही उन्हें प्रतीकात्मक रूप में छन्दसि भाषा में अनुभूत भी हुआ है। इसके अनुसार ही ललिता सहस्रनाम भी इसका उपदेश विना सम्पूर्ण योग्यता की परीक्षा के मानव के विनाश का हेतु बताता है– यानी यह एक अनाड़ी मानव को बन्दर के हाथ में दी हुई तलवार के समान है जिससे वह स्वयं अपना और अपने परिवार का ही अनिष्ट कर सकता है।

अस्तु हमें अपने पूज्यपाद के आदेशानुसार ही चलने का प्रयास करना चाहिए। इसी में हमारा एवं हमारे समाज का कल्याण निहित है।

अस्तु यह स्वसंवेद्य भाव अवांग मनस गोचर ऐसा है जैसे कोई पुरुष अपनी सुन्दरता एक निर्मल दर्पण में निहारकर अपने स्वरूप का अनुभव करता है। उसी प्रकार हमारा स्वसंवेद्य शिव अपने अभिन्न निर्मलादर्श रूप विमर्श शक्ति

द्वारा अपने स्वस्वरूप की उपलब्धि करता है। अतः यह शक्ति ही हमारे ब्रह्मत्व का नैसर्गिक स्फुरण है जिसके योग से शिव पंचकृत्यकारी कहा जाता है या शक्ति पंचकृत्यकारी कही जाती है। ब्रह्मादि भी इसके स्वरूप को नहीं जानते क्योंकि यह उनकी भी जननी है। इसलिये यह अज्ञेय भी है तथा अनादि अनन्त होने से अलक्ष्या भी है। स्वयंभू होने से अजा है, सर्वत्र व्याप्त होने से एका है। सारे भूत उसी को निर्देश करते हैं इसलिये अनेका हैं तथा स्वसंवेद्य भाव से ज्ञेय भी है और इसी दृष्टि से लक्ष्य भी है। इसे ही महावाक्यार्थ प्रकरण में विस्तार से समझाया है एवं काम कला ग्रंथ के प्रथम श्लोक में ही इसका दिग्दर्शन करा दिया गया है। (सकल भुवनों . . . . . . प्रकाशमात्र तनु)

अतः व्यष्टि रूप में मनुष्य में जो जीवनी शक्ति है कुण्डलिनी योग के अनुसार वही श्री विद्या का ही व्यष्टिगत विमर्श है जो व्यक्ति की इच्छा का प्रतीक उसका संचालक संस्थान है। यही नाद रूपात्मक परा विद्या के द्वारा जागकर सुषुम्ना पथ से ऊर्ध्व गमन करती हुई षट चक्रों को भेदकर सहस्रार में अपने सकल प्रकाश से अमृतत्व प्राप्त करके पुनः सभी निम्न चक्रों को प्लावित प्रकाशित करती हुई अपने केन्द्र में पुनः शान्त हो जाती है। इससे साधक के समस्त अभीष्ट सिद्ध होकर उसे कृतकृत्य कर देते हैं।

अस्तु तन्त्र शास्त्र में 'शब्द' अचेतन व्यापारमात्र नहीं है अपितु शिवशक्ति के मिश्र बिन्दु का विक्षोभ नाद रूप है जिसमें समस्त वर्ण अपने अर्थ सहित नित्य ही प्रकाशमान क्रियावान रूप से आन्तर पूजा पद्धति से अपने समत्व में अनुभूत किये जाते हैं जैसा कि- 'अन्तर्मुख समाराध्या बहिर्मुख सुदुर्लभा' के ललिता सहस्रनाम के वचनानुसार इसकी आराधना भावना द्वारा की जाती है जिसका अनुमोदन हमारी बाह्य पूजा पद्धति के क्रियाकलाप से होता है। इससे मानव के समस्त अभीष्ट सिद्ध होते हैं और उसका मानव जीवन सफल होता है। यही अपने अहम के प्रतियोगी इदं को अपने से अभिन्न अनुभूत करने में सहायक होकर उसे वीर पद प्रदान करती है। इसप्रकार यह 'वीर' (धीर) साधना का स्वरूप है जिसके इच्छा ज्ञान क्रिया तीनों ही आन्तरिक व्यापार हैं। शक्ति चित् अचित् धर्मी धर्म भाव से महाशक्ति ही दो प्रकार से मननीय है 'यह' उसका अपरा रूप है तथा एक परारूप है जो महावाक्यार्थ में समझाया गया है जिसे लक्षणा से जाना गया है उसके अवांङ् मनस गोचर भाव के कारण। यही ज्ञानवत क्रियात्व स्वरूप स्वभाव सम्बन्धी धर्मी शक्ति हैं यही प्रतिष्ठा ब्रह्म का नित्य अखण्ड स्वरूप है। उक्त समस्त अपरा शक्तियों का इसके साथ धर्मी धर्म या व्यापक व्याप्य सम्बन्ध है। नित्य शक्ति व्यापक हैं दूसरी उदय अस्त होनेवाली व्याप्य शक्तियाँ उसके आश्रित हैं। इनकी तीन प्रकार की सत्ता है अक्रम, क्रम, क्रमाक्रम

त्रय अथवा अपरिणामिनी, सपरिणामिनी, विषम परिणामिनी। इनमें अन्तिम विषम परिणामिनी का अन्त यानी अभाव हो जाता है।

वस्तुतः हमारा अहमात्मक ब्रह्मभाव ही व्यष्टि और समष्टि रूप में स्वयं की निर्मित वर्णात्मिक गुणधर्मों में नाद रूप से स्पन्दमान है। अस्तु इसे अनन्य रूप से अनुभव करना श्री विद्या की साधना का आन्तर रहस्य है, जो हमारी सहज समता के प्रयास से घटित होता हैं इसमें बहिरंग पूजाविधि उस अन्तरंग को जगाने का माध्यम मात्र है। उसमें कल्पनात्मक योजना हमारी भावना को दृढ करने का सतत प्रयास है।

इस प्रकार श्री विद्या की उपासना एक मनोवैज्ञानिक सत्य है यानी हमें अपने ब्रह्मत्व से अभिन्न रहकर कर्तृत्व एवं अकर्तृत्व से अछूता रहकर अपने कर्मों को अपने विमर्शात्मिक भाव के द्वारा लोक कल्याण में लगाते हुये यानी अपने ब्रह्मत्व में समर्पित करते हुये जीवन को यज्ञार्थ चलाना चाहिए इससे हम अपनी वासनात्मकता को निवृत्ति रूप तुष्टि देते हुये समाप्त करते हैं और लोक जीवन का श्रृंगार अपने ब्रह्मत्व में रहकर करते हुये अपने पुरुषोत्तम भाव में अपने को इसी जीवन में अभिन्न ही अनुभव करके सदा के लिए अपने में अमृतत्व लिये बैठ जाते हैं, फिर मृत्यु का अन्तिम भाग हमें अपने स्वातन्त्र्य से नहीं छू पाता। यही गीता द्वारा अनुमोदित सर्वधर्मान् परित्यज्य का विचार है। जिससे अपने पूर्व संस्कारों का साधन होकर हमारा ब्रह्मत्व प्रतिष्ठित होता है। इसीलिये हमारे पूज्यपाद ने इस उत्कृष्ट शास्त्रीय प्राण प्रतिष्ठित श्री चक्र की उपासना को भावनात्मक पूजन से करने का प्रावधान किया है।

पूज्यपाद के अनुसार जो वेदान्त की कठोर साधना नहीं कर सकता परन्तु श्रद्धा से वह उसका अधिकारी भी हैं तो उसके लिये यह एक सहज साधन पद्धति हैं। अस्तु हमें स्वरूप में असंगता समता का अभ्यास करना चाहिये एवं स्वभाव से अपनी व्यष्टि और समष्टि में अनन्यता की भावना करना चाहिये यही श्री विद्या का मुख्य साध्य प्रयोजन है।

दिनांक : १ फरवरी १९९१
४८/२८, टी. टी. नगर, भोपाल

अम्बाप्रसाद श्रीवास्तव

अनन्त श्री स्वामी जी महाराज, दतिया (म. प्र.)

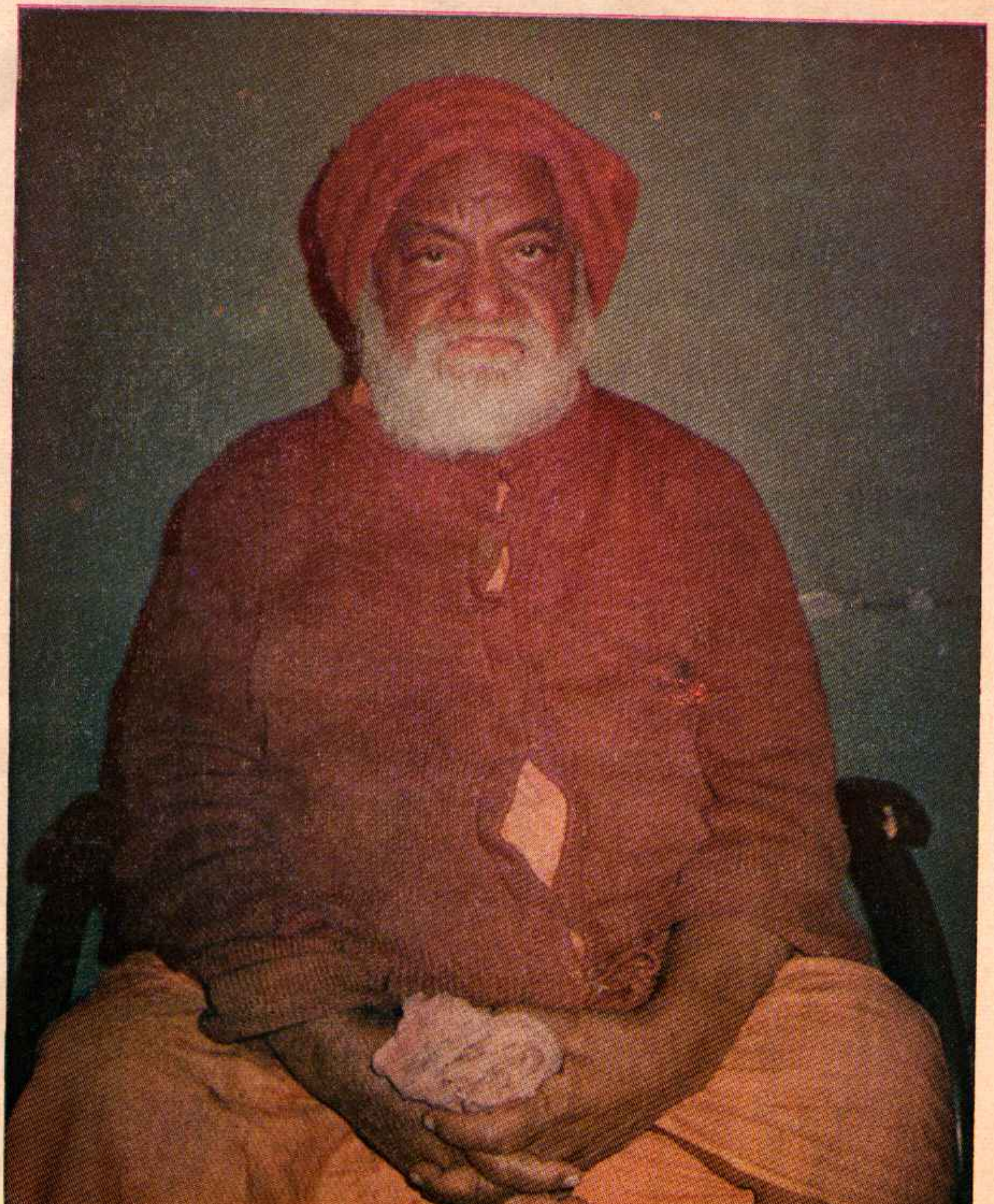

ब्रह्मानन्दं परम सुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिम्, द्वंद्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादि लक्ष्यम् ।
एकं नियं विमलमचलं सर्वधी साक्षिभूतम्, भावातीतं त्रिगुण रहितं सद्गुरुं तं नमामि ॥

॥ श्रीः ॥

वरिवस्यारहस्यम्

प्रथमोंशः

मङ्गलाचरण

विद्यानां च मनूनां मनुसंख्यानां च विद्यानाम् ।
उपदेष्टा जयतितरां नरसिंहानन्दनाथ गुरुः ॥
वरिवस्यारहस्याख्यो ग्रन्थों यः स्वेन निर्मितः ।
तत्र दुर्घटशब्दानामर्थः संक्षिप्य कथ्यते ॥

भावार्थ– चौदह मनु होने के कारण मनु शब्द से चतुर्दश का ही अर्थ लगता है। श्री नरसिंहानन्दनाथ इन चौदह विद्याओं एवं उनके मन्त्रों के उपदेष्टा हैं, इसलिए उनकी जय हो। यह "वरिवस्या-रहस्य" नामक ग्रन्थ स्वयं उनके ही द्वारा रचा गया है। हम इसके कठिन शब्दों का संक्षेप में कथन करते हैं।

टीका– "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत" (मु. उ. २–१२) 'आचार्यवान्पुरुषो वेद' (छा. उ. ६–१४–२) उक्त श्रुति वचनानुसार आचार्यवान पुरुष ही ब्रह्म को जानता है, और जिज्ञासु को तत्वज्ञान के हेतु गुरु के समीप जाना चाहिए। अतएव सब विघ्नों के नाश के हेतु हम सर्वप्रथम 'सकलमन्वाधिष्ठातृदेवताऽपररूपं' श्री गुरु नरसिंहानन्दनाथ की स्तुति करते हैं, जिनकी आज्ञा से यह सम्प्रदाय प्रवर्त्तमान है।

व्याख्या– मन्त्रशास्त्र के अनुसार शक्तिपरक मन्त्रों को विद्या तथा शिवपरक और पुरुष देवताओं के मन्त्रों को मन्त्र कहा जाता है –

शक्त्याद्या तु भवेद्विद्या शिवाद्यो मन्त्र उच्यते ।
दीक्षाभिषेक पूता तु प्राणिनां भुक्ति मुक्तिदा ॥

– शारदा तिलक

नरसिंहानन्दनाथ विद्याओं (शक्तिपरक मन्त्रों), मन्त्रों (शिव-परक मन्त्रों) तथा मनु संख्यानां च विद्यानां अर्थात चौदह विद्याओं के रहस्यों के ज्ञाता थे। चौदह विद्यायें निम्नलिखित हैं। ४ वेद (१ ऋक, २ यजु, ३ साम, ४ अथर्व) ६ वेदाङ्ग अथवा शास्त्र (१ शिक्षा, २ कल्प, ३ ज्योतिष, ४ छन्द, ५ निरुक्त, ६ व्याकरण) न्याय, मीमांसा, पुराण और धर्मशास्त्र। धर्मशास्त्र में स्मृतियों, धर्म-सूत्रों, गृह्यसूत्रों आदि को माना जाता है। नरसिंहानन्दनाथ उपर्युक्त विषयों के केवल ज्ञाता ही नहीं थे वरन् उपदेष्टा भी थे।

'यः स्वेन निर्मितः' के स्थान पर 'यस्तेन निर्मितः' पाठ भेद भी मिलता है। विविध सन्दर्भों और प्रमाणों के अनुसार 'वरिवस्या रहस्य' की रचना स्वयं भास्कर राय द्वारा ही की गई थी। वर्ण्य विषय को बोधगम्य बनाने के लिये उन्होंने इसकी टीका भी लिखी। अतएव यः स्वेन निर्मितः (मेरे द्वारा लिखा गया) पाठ ही उपयुक्त होगा।

प्रह्लादाभीष्टदाने विबुधसमुदयस्तूयमानापदाने
(ऽ) शेषक्षोणीभृदन्तः प्रविलसितपदाहोबलक्षेत्रगर्भात्।
प्रादुर्भूते हिरण्यद्विरदमतिमदध्वान्ततन्त्रं निहन्तुं
धीरे सच्छास्त्रयोनौ मम भुवनगुरावस्तु भक्तिर्नृसिंहे ॥१॥

भावार्थ– जिनका पूर्व चरित्र प्रह्लाद का अभीष्ट देनेवाला तथा विशेष बुद्धिमान समाज का स्तुत्य है। जिन्होंने अहोबल क्षेत्र में उत्पन्न होकर हिरण्यगर्भ रूप अज्ञान तिमिर का नाश किया है। उन्हीं तन्त्रों के ज्ञाता एवं सत्शास्त्रों को धीरों को प्रदान करने वाले भुवनगुरु श्री नरसिंहजी को मेरे भक्तिपूर्वक प्रणाम हैं।

टीका– जो प्रह्लाद दैत्य को ब्रह्मानन्द रूप अभीष्ट देनेवाले तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चारों पुरुषार्थों को सिद्ध कराने वाले हैं, जिनका पूर्व चरित्र बुद्धिमान पुरुषों, पण्डितों तथा देवताओं का भी स्तुत्य है, उन्हीं का हम स्मरण करते हैं। वही समस्त राजाओं द्वारा वन्दनीय, सुशोभायमान चरणवाले, अहोबल क्षेत्र के मध्य पुरुष विशेष की पत्नी के गर्भ से आविर्भूत हुए। उन्होंने ही हिरण्यकशिपु नामक मदमत्त हाथी को मारा। अर्थात् जिन्होंने हस्ती रूपी अज्ञान मद को

नष्ट किया है, अर्थात् जिस द्वैतवादी मध्वमत से बहुत समुदाय अज्ञान तिमिर के मद में मस्त था उसको जिन्होंनें समाप्त किया है वही पण्डित समस्त शास्त्रों की योनि अर्थात् शास्त्रों के कारण हैं। वही धीर बुद्धि के प्रेरक हैं। इन्हीं की श्वास से ही सारे वेदों का निःसरण होता है, जैसा कि वेद वचन है– " छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्" अर्थात् जो श्रवण किए गए ज्ञान के] हेतु हैं। अथवा वह उपनिषद पुरुष हैं, जिनको उपनिषद में कहा है– 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" (बृ. उ. ३–९–२६) इसका वर्णन ब्रह्मसूत्र के "शास्त्रयोनित्वात्" के अधिकरण में दो प्रकार से हुआ है। अस्तु यही उपनिषद पुरुष ही नरसिंहानन्द नरकेसरी विख्यात समस्त ग्रन्थों के कर्ता हैं। उन्हीं की प्रार्थना हम भक्तिपूर्वक करते हैं। टीका के वर्णन में उपमा और उपमान में अभेद ध्वनि निकलती है, तथा इसमें श्लेष अलंकार है जो प्रकृति में उभय विषयक सभङ्ग और अभङ्ग रूप में मिलकर स्थित है ॥१॥

व्याख्या – श्लेष के प्रयोग द्वारा भास्कर राय ने गुरु नरसिंहानन्दनाथ और विष्णु अवतार नृसिंह को प्रणाम किया है। नरसिंहानन्दनाथ और भगवान नृसिंह में अभेद का प्रतिपादन भी किया गया है। प्रह्लाद और नृसिंह पक्ष में 'प्रह्लादाभीष्ट' का तात्पर्य प्रह्लाद का अभीष्ट अर्थात् हिरण्यकशिपु का बध है। मदमत्त हिरण्यकशिपु का बध करके भगवान नृसिंह ने प्रह्लाद के अभीष्ट की पूर्ति की थी। नरसिंहानन्दनाथ गुरु के पक्ष में प्रह्लादाभीष्ट में द्वन्द्व समास समझना चाहिये। श्री विद्या की उपासना से साधक को प्रह्लाद अर्थात् जन्म मरण से मुक्ति रूप प्रकर्ष आह्लाद और जागतिक जीवन का अभीष्ट दोनों की प्राप्ति होती है :–

यत्रास्ति भोगो न च तत्र मोक्षो यत्रास्ति मोक्षो न च तत्र भोगः।
श्री सुन्दरी सेवन तत्पराणां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव ॥

गुरुपक्ष में 'अहोबल' का तात्पर्य अकार से लेकर हकार पर्यन्त वर्णमाला से है। परावाक् स्फुरित होकर पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी का रूप ग्रहण करती है। वाक् से ही सभी मंत्रों की उत्पत्ति होती है। परावाक् ही शक्ति है अतएव इसे पुरुष विशेष (शिव) की पत्नी कहा गया है।

आ प्राचः कामरूपाद् द्रुहिणसुतनदप्लाविताद‍ा प्रतीचो
गांधारात्सिन्धुसान्द्राद्रघुवरचरितादा च सेतोरवाचः ।
आ केदारादुदीचस्तुहिनगहनतः सन्ति विद्वत्समाजा
ये ये तानेष यत्नः सुखयतु समजान्कश्चत्कर्तुमीष्टे ॥ २ ॥

भावार्थ– पूर्व में ब्रह्मपुत्र प्लावित कामरूप देश से पश्चिम में सिन्धु नद द्वारा प्लावित गान्धार देश तक, एवं दक्षिण में भगवान राम द्वारा रचित सेतु रामेश्वर से उत्तर में हिमाच्छादित क्षेत्र केदार तक व्याप्त देश में जो उपासक विद्वानों का समाज है उसकी सुखपूर्वक यत्न सिद्धि के लिए, जिससे उन्हें अपने अभीष्ट की सिद्धि हो, इस ग्रन्थ को रचा गया है। पशु समाज या समुदाय को कौन चमत्कृत करना चाहता है।

टीका– ग्रन्थ रचियता प्रस्तुत ग्रन्थ की गरिमा को बताते हुए कहते हैं कि पूर्व दिशा में कामरूप देश तक जो ब्रह्मपुत्र नद से सिंचित है, पश्चिम में गांधार देश तक जो कि सिंधु नदी द्वारा सिंचित है, दक्षिण में सेतु तक जिसे भगवान राम के चरण कमल के चिह्नों ने पवित्र किया है और उत्तर में केदार प्रदेश तक जो सघन हिम से आच्छादित है, इस क्षेत्र में रहने वाले केवल विद्वत् समाज के लिए यह रचना प्रस्तुत है। यह ग्रन्थ मूर्खों के लिए नहीं है। विद्वान (श्री विद्योपासक) इस ग्रन्थ द्वारा सुखपूर्वक अपने अभीष्ट को प्राप्त कर सकता है ॥ २॥

स जयति महान् प्रकाशो यस्मिन् दृष्टे न दृष्यते किमपि ।
कथमिव तस्मिञ्ज्ञाते सर्वं विज्ञातमुच्यते वेदे ॥ ३ ॥

भावार्थ– उस महान प्रकाश की जय हो जिसके दिख जाने से फिर अन्य रूप में कुछ भी नहीं दिखाई देता। उस तत्व को वेद के वचनानुसार जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है।

टीका– "स" शब्द आत्मवाचक है, और आत्मा देश और काल की अवधि से परे है। इसलिए यह महान है, सर्वदा प्रकाशमय ज्योति स्वरूप है। इसीलिए श्रुतियों में भी 'न तत्र सूर्यो भाति' (क. उ. ५–१५) सूर्य, चन्द्र, तारागण, अग्नि इसको प्रकाशित नहीं कर सकते हैं, क्योंकि यह स्वयं प्रकाशस्वरूप है। यह आत्म तत्व सर्वोत्कृष्ट है, इसलिए ग्रन्थ रचियता इसकी जय जयकार करता है।

निर्विकल्पात्मक चरम वृत्ति द्वारा जो भाव अधिष्ठान को देखता है, वह किसी दृश्य को विषय नहीं बनाता क्योंकि अधिष्ठान का ज्ञान इस स्थिति में अनावश्यक है । अतएव यह श्रुति प्रमाण– "एक का ज्ञान होने पर सर्वस्व ज्ञान हो जाना' किस प्रकार संगत होगा यह, एक आश्चर्यजनक बात है । विवर्तवादी वेदान्ती परिणामवादी तांत्रिकों को दोषपूर्ण मानते हैं । विवर्तवाद में मृत्तिका एवं घटादि का दृष्टांत दिया जाता है, जबकि तांत्रिक प्रक्रिया में 'मैं जानता हूँ, मैं इच्छा करता हूँ' इत्यादि उत्तम पुरुष के अन्तर्भाषमान स्फुरण-ज्ञान ही प्रकाश रूपी ब्रह्म है और यह प्रकाश रूपी ज्ञान सर्वज्ञत्व, सर्वेश्वरत्व, सर्वकर्तृत्व, पूर्णत्व, व्यापकत्वादि शक्तियों से सम्वलित है । वही आनन्दांश से स्फुरित तत्व परा, अहंता, विमर्श, परालिताभट्टारिका एवं त्रिपुर-सुन्दरी आदि नामों से जाना जाता है । विरुपाक्ष-पञ्चाशिका ग्रन्थ के विश्व शरीर स्कन्ध में कहा गया है कि ईश्वरता, कर्तृत्व, स्वतंत्रता तथा चिद्रूपता ये सब अहंता के ही पर्याय हैं । ऐसा ही सद्पुराणों का भी कथन है । पराहंता के अन्तर में 'इदं' स्फुरित होकर 'अहं' को धारण करता है । इस सम्बन्ध से इदं पद से ज्ञात दृश्य अहं रूप ही है । यही शक्ति है अथवा विशिष्ट ब्रह्म है । यह दृश्य उसका परिणाम ही है । इस परिणाम में उस परतत्व की परिणति नहीं होती है, यानि वह परतत्व तो अपरिणामी ही रहता है, ऐसा वामकेश्वर तंत्र का वचन है ।

छान्दोग्योपनिषद (६–१–४) कहता है– " वाचाऽऽरम्भणं विकारः" अर्थात् विभिन्न नाम (घट, पट आदि) तो वाणी के विकार हैं, सत्य तो केवल एक वो (मिट्टी) ही है । श्रुति कथन भी यही है कि वह तो रस रूप में स्थित है । शक्ति और शक्तिमान में उपादान और उपादेय रूप से अत्यन्ततम अभेद है । उपनिषद् वाक्य भी अभेद में ही भेद का पर्यावसान मानते हैं । इसलिए 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा. उ. ३–१४–१) यह सब निश्चय रूप से ब्रह्म ही है । ऐसा समानाधिकरण अभेद का अधिष्ठान है । सभी अद्वैत श्रुतिवचन इसी अभिप्राय को बताते हैं । श्रुति प्रमाण सर्व मूर्धन्य है, उसके अनुसार तंत्र की अद्वैत मान्यता है । कार्य कारण का भेद कल्पित है न कि कार्य रूपी प्रपञ्च । 'नेह नानाऽस्ति किंचन' (बृ. उ. ४–४–१९) आदि

श्रुतियों में भी भेद का ही निषेध है, न कि प्रपञ्च का। 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि श्रुति में भी भेद को ही कल्पित माना है न कि प्रपञ्च को। अभाव शब्द को विशेषण के रूप में विशेष रूप से प्रयोग में लाया गया है।

भामती ग्रन्थ में भी 'स्वर्ण मुकुट' के उदाहरण में केवल भेद मात्र का निराकरण किया गया है। उसके अनुसार हाटक यानी स्वर्ण न्यून सत्तावाला नहीं है तथा न मुकुट ही न्यून सत्ता वाला है। दोनों समसत्तात्मक होने के कारण उनमें केवल भेद का ही निराकरण है। परिणामी और परिणाम दोनों की सत्ता समान है, अर्थात् परिणाम को प्राप्त एवं परिणामी समान सत्ता वाले हैं, इसमें भेद के अभाव का ही निरूपण है। 'मायामात्रमिदं द्वैतम्' (गौड. १–१७) अर्थात् 'माया मात्र ही द्वैत है' इसमें भी द्वैत शब्द से केवल भेद का ही मिथ्यात्व प्रतिपादित है। इसमें जगत प्रतियोगी सम्बन्ध से सत्य है और अनुयोगी सम्बन्ध से 'ब्रह्म' सत्य है। यहां भी भेदवत् ही जगत और ब्रह्म का निरूपण है। यानी भेद ही भाव और अभाव रूप से निरूपित होता है। ब्रह्म में 'सद्' रूप से भाव है और जगत में 'असद्' रूप से भाव है, अर्थात् ब्रह्म और जगत में भाव और अभाव का ही निरूपण है। इस प्रकार विचार करने पर यह बात सिद्ध है कि यदि एक का अभाव माना जाएगा तो दूसरे के अभाव का भी प्रसङ्ग उत्पन्न हो जाएगा। यानी जगत को मिथ्या कहा जाएगा तो ब्रह्म को भी मिथ्या के प्रसङ्ग से नहीं बचाया जा सकता। इसलिए श्रुति में परिणामवाद ही संगत है और सिद्ध है।

भगवान व्यासदेव ने भी ब्रह्मसूत्र के प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' (ब्र. सू. १–४–१३) के अधिकरण में भी जहां एक विज्ञान से सर्व विज्ञान के ज्ञान की प्रतिज्ञा समझायी है, वहां भी मिट्टी के घट अथवा लोहे की नख-कटनी का उदाहरण देकर यही बात कही है। एवं 'बहु स्यां प्रजायेय' (तै. उ. २–७) आदि अध्या उपदेशों द्वारा अनुसंधान करते हुये परिणामवाद का ही अभिप्राय अभिप्रेत है। इसी प्रकार 'आत्मकृतेः परिणामात्' (ब्र. सू. १–४–२६) सूत्र के प्रसङ्ग में भी कण्ठ से वेणुस्वर युक्त उदाहरण में भी यही बात कही गई है।

परन्तु यहां पर स्वामी शंकराचार्य ने उसका तात्पर्य विवर्तवाद के अनुसार लगाया है। परन्तु 'सौन्दर्यलहरी' में "मनस्त्वं व्योम त्वम्–" (३५) आदि वचनों का उन्होंने परिणामवाद से प्रतिपादन किया है। इस सम्पादन से उनका निज सिद्धान्त भी परिणामवाद ही सिद्ध है।

हमारे इसी पक्ष में 'ललिता सहस्रनाम' ग्रन्थ में जो "मिथ्याजगदधिष्ठाना" (७३५) नाम आया है उससे भी यही सिद्ध होता है।

अस्तु, इस प्रकार के प्रसंगों में जो मिथ्यात्व है उससे अतिरिक्त ही उसका निज रूप है। घट रूप से वह अनित्य है तथा मिट्टी रूप से वह नित्य है। इसमें केवल विरुद्ध धर्मों का ही निरास हुआ है, जिसे 'शम्भवानन्द कल्पलता' ग्रन्थ में विस्तार से समझाया गया है ॥३॥

व्याख्या – 'यस्मिन् दृष्टे न दृश्यते किमपि' शाक्त तन्त्र विहित सृष्टि विकास तथा शिव-शक्ति तत्व एवं सृष्टि के अभेद की ओर संकेत किया गया है। सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और संहार के विषय में वेदान्त, न्याय, सांख्य आदि दर्शनों का मत भिन्न है जबकि शाक्त तन्त्र का मत उनसे अलग है। वेदान्त के अनुसार सत् रूप ब्रह्म के साथ माया के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति होती है। दृश्यमान जगत असत् और मिथ्या है। उसमें सत् चिद्रूप ब्रह्म के प्रतिबिम्बित होने के कारण ही वह सत्यवत् दिखाई देता है। सत् चिद्रूप ब्रह्म की अनेक रूपों में जो प्रतीति होती है वह मिथ्या और माया का परिणाम है। माया जनित भ्रम नष्ट होने के साथ ही सृष्टि का विलय हो जाता है और केवल ब्रह्म शेष रहता है। मिथ्यात्व की इस प्रतीति को विवर्त कहा जाता है।

न्याय और वैशेषिक दर्शन सृष्टि की उत्पत्ति में आरम्भवाद का प्रतिपादन करते हैं। परमाणु ही जगत का मूल समवायि कारण है और ईश्वर केवल निमित्त कारण है। ईश्वरेच्छा से ही परमाणु संघटित होकर सृष्टि रूप में परिणत होते हैं और ईश्वरेच्छा से उनके विघटित होते ही सृष्टि का लय हो जाता है। सांख्य दर्शन सत्कार्यवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करता है। इसके अनुसार किसी ऐसे पदार्थ की उत्पत्ति सम्भव ही नहीं है जो पहले विद्यमान न हो।

प्रत्येक कार्य सूक्ष्म रूप से कारण में विद्यमान रहता है। कार्य का स्वभाव भी वही होता है जो कारण का होता है। बौद्ध दर्शन अभाव से सृष्टि की उत्पत्ति और अभाव में ही उसका विलय मानता है।

शाक्त दर्शन का मत उपर्युक्त मतों से सर्वथा भिन्न है। इसके अनुसार शक्तितत्व और सृष्टि में कोई अन्तर नहीं। शक्तितत्व ही स्फुरित होकर सृष्टि और सृष्टि के विविध पदार्थों में दिखाई देता है। अन्य दर्शन अपने मत को स्पष्ट करने के लिये मृत्तिका और घट अथवा सूत्र और वस्त्र का उदाहरण देते हैं वही शाक्त दर्शन जल और बर्फ का उदाहरण देता है। जल से बर्फ की उत्पत्ति नहीं होती वरन् जल का घनीभूत रूप ही बर्फ है। इसी प्रकार सृष्टि भी सर्व व्यापक चिद्रूपिणी शक्ति का घनीभूत रूप है। विश्वोत्तीर्णा रूप में जो शक्तितत्व सभी नाम रूप और पदार्थों से परे रहता है वही विश्वात्मिका रूप से सृष्टि रूप में प्रकट होता है। इसी का उस परमतत्व प्रकाश और विमर्श रूप कहा जाता है। सृष्टि विस्तार विमर्शशक्ति का कार्य है :-

यदा सा परमा शक्तिः स्वेच्छया विश्वरूपिणी।
स्फुरत्तामत्मनः पश्येत्तदा चक्रस्य संभवः॥ (योगिनी हृदय)

शक्तितत्व और सृष्टि के अभेद की अनुभूति होने पर 'न दृश्यते किमपि' की स्थिति उत्पन्न होती है। इस स्तर पर पहुंचे हुये साधक को चारों ओर जड़ चेतन सभी पदार्थों में केवल शक्तितत्व ही दिखाई देता है। महात्मा अक्षर अनन्य ने इस स्थिति को बहुत ही सुन्दर शब्दों में अभिव्यक्त किया है :-

संसारहि धोखो य है, है कहुं सिरजन हार।
कहि अनन्य धोखो हमें, है धों कित संसार॥

अर्थात् संसार के सभी व्यक्ति इस भ्रम में भटकते रहते हैं कि उन्हें चारों ओर केवल सांसारिक पदार्थ ही दिखाई देते हैं और कहीं सिरजन हार (सृष्टा) दिखाई नहीं देता। इसके विपरीत हमें सर्वत्र सृष्टा ही दिखाई देता है, संसार कहीं दिखाई ही नहीं देता।

नैसर्गिकी स्फुरता विमर्शरुपा य वर्तते शक्तिः।
तद्योगादेव शिवो जगदुत्पादयति पाति संहरति ॥४॥

भावार्थ– यह नैसर्गिक यानि, स्वाभाविक स्फुरण रूप भाव ही विमर्श रूपा प्रवर्त्तमान शक्ति का स्वरूप है। इसी के योग से शिव जगत का सृजन, पालन और संहार करता है।

टीका– शिव के सृजन, पालन और संहार रूप तीन कार्यों के साथ ही तिरोधान और अनुग्रह भी उसके उपलक्षण रूप में समझ लेना चाहिए ॥४॥

व्याख्या– श्लोक संख्या ३ में 'स जयति महान प्रकाशो' के द्वारा प्रकाश रूप अद्वय शिव शक्ति तत्व का संकेत किया गया है। चतुर्थ श्लोक में उसके विमर्श रूप का उल्लेख है।

विश्वोत्तीर्णा चिद्रूपिणी शक्ति जब सिसृक्षा रहित होकर, दृश्य प्रपंच से परे रहकर परम शिव के साथ अद्वय रूप से रहती है तब शिव शक्ति निष्कल रूप कहा जाता है। यही प्रकाश रूप है। यही शक्ति जब स्वातन्त्र्य का आश्रय लेकर सृष्टयोन्मुख होती है तब उसे विमर्श शक्ति कहा जाता है। 'चितिः स्वतन्त्रा विश्व सिद्धि हेतुः'। सृष्टि व्यापार विमर्श शक्ति का ही स्फुरण विस्तार है। 'नैसर्गिकी स्फुरत्ता' शब्द 'चितिः स्वतन्त्रा' के अर्थ में प्रयुक्त किये गये हैं। वस्तुतः प्रकाश रूप परम शिव की जो शक्ति सूक्ष्य रूप में चिद्रूपिणी है वही विमर्श रूप से स्फुरण के पश्चात दृश्य जगत का रूप धारण कर लेती है :–

'सृष्टि स्थिति संहार मेलन रूपेयं तुरीया संविद भट्टारिका तत्तद् सृष्टयादि भेदानुद्वमन्ती संहरन्ती च सदा पूर्णा च कृशा चोभय रूपा चानुभय रूपा चाक्रमेव स्फुरन्ती स्थिता।'

विश्वोत्तीर्णा रूप शक्तितत्व में कोई स्फुरणा नहीं होती किन्तु विश्वात्मिका अर्थात विमर्श रूप में विश्व सिद्धि अर्थात सृष्टि स्थिति संहार तिरोधान अनुग्रह पंचकृत्यों के लिये वह स्वतन्त्र है।

मूल श्लोक में उत्पादयति (सृजन) पाति (पालन) और संहरति (संहार) का ही उल्लेख किया गया है। अन्यान्य दर्शनों में इन्हीं कृत्यों का उल्लेख प्राप्त होता है और इसीलिये उनके तीन अधिकारी देवता ब्रह्मा विष्णु महेश को माना जाता है। शाक्त दृष्टि के अनुसार कृत्य पांच हैं। दो कृत्य तिरोधान और अनुग्रह हैं।

चित्स्वरूप निष्कल शिव का सृष्टचादि कृत्यों से कोई सम्बन्ध नहीं है। विभु चिदात्मक आत्मा स्वातन्त्र्य बल से आत्म संकोच करते हैं। उसी के पश्चात वह चिदणु रूप में अपने को प्रकट करते हैं। आत्म संकोच के बिना सृष्टि का उदय नहीं होता अतएव तिरोधान की स्थिति सृष्टि के पूर्व में मानी जाती है। आत्म संकोच ही तिरोधान कहलाता है। तिरोधान रूप संकोच की निवृत्ति अनुग्रह से होती है। संहार के बाद भी अभिनव सृष्टि के बीज शेष रहते हैं जिनकी निवृत्ति अनुग्रह से होती है। संक्षेप में अभेद में भेद का आभास तिरोधान और चिद्रूप परमात्मा के साथ एकात्म भाव ही अनुग्रह है। तिरोधान और अनुग्रह के बीच सृष्टि स्थिति संहार का क्रम चलता रहता है। तिरोधान कृत्य के अधिकारी देवता ईश्वर और अनुग्रह के अधिकारी देवता सदाशिव हैं। इसीलिये शिव को पंचकृत्यकारी कहा जाता है।

साऽवश्यं विज्ञेया मत्परिणामादभूदेषा।
अर्थमयी शब्दमयी चक्रमयी देहमय्यपि च सृष्टिः ॥५॥

भावार्थ– उसे अवश्य ही जानना चाहिए जिसके परिणाम स्वरूप यह अर्थमयी, शब्दमयी, चक्रमयी तथा देहमयी सृष्टि हुई है।

टीका– उसे अवश्य ही जानना चाहिए जो समस्त ज्ञान, विज्ञान के साधन के साथ ही मोक्षादि पुरुषार्थों को प्रदान करती है। वह अर्थमयी रूप से शिव से पृथ्वी पर्यन्त छत्तीस तत्व रूपा है। शब्दमयी होने के कारण वह परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी रूपा है। चक्रमयी होने के कारण वह बिन्दु से भूपुर चक्र पर्यन्त श्रीयन्त्र रूपा है। तथा देहमयी होने से वह स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर रूपा है ॥५॥

व्याख्या– 'सावश्यं विज्ञेया' के द्वारा विमर्श शक्ति के ज्ञान का निर्देश किया गया है। सृजन, स्थिति, संहार आदि विमर्श शक्ति के ही व्यापार हैं। यही शब्द, अर्थ सृष्टि का बीज है। इसी को श्रुति में नाम रूप की अव्याकृत अवस्था कहा गया है :–

विमर्शोनाम विश्वाकारेण विश्वप्रकाशेन विश्वसंहारेण वा अकृत्रिमोऽहम् इति स्फुरणम्।

शब्दमयी सृष्टि– विश्व में स्थूल दृष्टि से जो भी पदार्थ दिखायी देते हैं वह नाम अर्थात् शब्द का दृश्य रूप है। नाम के बिना किसी पदार्थ की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अर्थमयी सृष्टि के पहले शब्दमयी सृष्टि का विस्तार होता है। मूलाधार स्थित कुण्डलिनी विमर्श शक्ति का ही नाभान्तर है। इसी का नाम परावाक् है। प्रलय काल में सम्पूर्ण अर्थमयी सृष्टि परावाक् रूप शब्द ब्रह्म में लीन हो जाती है और 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय' के साथ ही पुनः प्रकट होती है।

विश्रान्तभात्मनि पराह्य वाचि सुप्तौ
विश्वं वमत्यथ विबोद पदे विमर्शः

– मातृका चक्र विवेक

परावाक् से ही पश्यन्ती मध्यमा वैखरी रूप शब्द सृष्टि का विकास होता है। अतएव परावाक् को कारण बिन्दु और पश्यन्ती मध्यमा वैखरी को कार्य बिन्दु कहा जाता है।

अर्थमयी सृष्टि– शिव तत्व से लेकर पृथ्वी तत्व पर्यन्त छत्तीस तत्वों को अर्थमयी सृष्टि कहा जाता है। विश्व में स्थूल दृष्टि से जो कुछ दिखाई देता है उन सभी पदार्थों की उत्पत्ति छत्तीस तत्वों से ही होती है। यह पदार्थ शक्ति तत्व से भिन्न नहीं होते वरन् विमर्श शक्ति के ही रूपान्तर होते हैं। शक्तितत्व ही उन पदार्थों के रूप में परिणत होता है। सभी पदार्थों का कोई नाम अवश्य होता है। संज्ञा विहीन पदार्थ की कल्पना नहीं की जा सकती। इसी प्रकार असत् अर्थात अस्तित्व हीन पदार्थ की कोई संज्ञा नहीं हो सकती। संक्षेप में दृश्यमान जगत और उसके सभी जड चेतन पदार्थों का नाम ही अर्थमयी सृष्टि है।

चक्रमयी सृष्टि– जिस प्रकार सृष्टि शक्तितत्व का ही घनीभूत रूप है उसी प्रकार श्री चक्र भी शक्ति का ही प्रस्तार है। श्री चक्र ब्रह्माण्ड और पिण्डाण्ड स्वरूप है। बिन्दु चक्र शिव की मूल प्रकृति का स्वरूप है और शेष आठ चक्र प्रकृति विकृति उभयात्मक हैं। बिन्दु रूप परावाक से पश्यन्ती मध्यमा वैखरी रूप त्रिकोणात्मक शब्द सृष्टि व्यक्त होती है। बिन्दु ही अर्थ सृष्टि की जननी है।

शिवशक्त्यात्मकं ज्ञेयं श्री चक्र शिवयोर्वपुः

देहमयी सृष्टि– पदार्थों का जो स्वरूप दिखायी देता है वही उन पदार्थों की देह है। विमर्श शक्ति ही इनकी उत्पत्ति का निमित्त कारण है और उपादान कारण भी है। केवल मनुष्य ही देहधारी नहीं है वरन् समस्त प्राणियों, पेड पौधों तथा जड पदार्थों की भी देह होती है। उनकी देह वही है जिस रूप में वह दिखायी देते हैं। विमर्श शक्ति ही उन रूपों में परिणत होती है।

श्लोक ३ में 'प्रकाश' तत्व के लिये 'जयति' कहा गया है जबकि यहां पर विमर्श शक्ति के लिये 'सावश्यं विज्ञेया' कहा गया है। शाक्त दर्शन में विमर्श शक्ति की आराधना का ही विधान किया गया है क्योंकि विमर्श शक्ति ही श्रेय और प्रेय की दात्री है –

विदिता येन स मुक्तो भवति महात्रिपुर सुन्दरी रूपः

सृष्टि दो प्रकार की है– शब्द सृष्टि और अर्थ सृष्टि। देहमयी सृष्टि और चन्द्रमयी सृष्टि भी शब्दसृष्टि और अर्थसृष्टि के ही अन्तर्भूत हैं।

तज्ज्ञानार्थमुपाया विद्या लोके चतुर्दश प्रोक्ताः।
तेष्वपि च सारभूता वेदास्तत्रापि गायत्री ॥६॥

भावार्थ– विद्या ही उसके जानने का उपाय है। लोक में चौदह विद्याएँ कही जाती हैं। इन सब का सार वेद हैं तथा वेदों का सार गायत्री मंत्र है।

टीका– चतुर्दश विद्याओं के अन्तर्गत चार वेद तथा उनके अंग छः विद्याएँ– शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द एवं ज्योतिष तथा न्याय, मीमांसा, पुराण एवं धर्मशास्त्र हैं। तन्त्रशास्त्र को धर्मशास्त्र के अन्तर्गत ही माना गया है। इसके प्रमाण समर्थन के लिए हमारी श्रीत्रिपुरसुन्दरी बाह्य वरिवस्या (पूजा) विधि देखना चाहिए। तन्त्रराज ग्रन्थ व्याख्यान में विस्तार से तन्त्रों का अन्तर्भाव धर्मशास्त्र में किया गया है। इससे पूज्य महापुरुषों का तथा वार्तिककारों का भी विरोध न हो एवं शास्त्र के परिमाण का अतिक्रमण न हो अस्तु, इसको धर्मशास्त्र से पृथक मानना उचित नहीं है ॥६॥

तस्या रूपद्वितयं तत्रैकं यत् प्रपठ्यते(ऽ)स्पष्टम् ।
वेदेषु चतुर्ष्वपि परमत्यन्तं गोपनीयतरम् ॥ ७ ॥

भावार्थ– उसके (गायत्री के) दो रूप हैं। एक स्पष्ट है, अर्थात् पढ़ने में आता है तथा दूसरा अस्पष्ट है। चारों वेदों में इस दूसरे रूप का वर्णन अत्यन्त गोपनीयतर रूप में हुआ है।

टीका– गायत्री को स्पष्ट और अस्पष्ट दो रूपों में कहा गया है। अस्पष्ट (गोपनीय) रूप को पदच्छेद से आवृत्त करके गोपनीय रूप में सांकेतिक शब्दों से बताया है। उसके तीन चरण "तत् सवितुः" आदि तो स्पष्ट हैं, परन्तु "परोरजसे सावदोम्" जो चौथा चरण है वह अस्पष्ट है। गोपनीय रूप ही परा रूप श्रीविद्या के नाम से चारों वेदों में अत्यन्त गोपनीय रूप से कहा गया है ॥ ७ ॥

संगति– यद्यपि तन्त्रराज के दोनों भागों में तथा सौन्दर्यलहरी में भी हादि विद्या का ही पहले उद्धार देखा जाता है। तथापि 'श्रीविद्यैव तु मन्त्राणां तत्र कादिर्यथा परा' के वचनानुसार कादि विद्या ही परा है। इसी वचन के अनुसार षोड़शी भी कादि मन्त्र से ही घटित है। 'यदक्षरैकमात्रेऽपि', 'यदेकादशमाधारम्' के अनुसार ग्यारहवाँ अक्षर (ऐं ँ) ही जिसका आधार है। इस प्रकार इस अक्षर की प्रशंसा इसके रहस्यार्थ प्रतिपादन के लिए की गई है। त्रिशति स्तोत्र में भी इसी का प्रतिपादन समाहृत है। त्रिपुरोपनिषद् में भी इसी के मूल का उद्धार हुआ है। योगिनीहृदय के कथन में भी इसी का अर्थ समझाया है, जिसका वर्णन हम आगे अर्थ के विचार में करेंगे। शाङ्ख्यायन तंत्र का भी इसी की ओर झुकाव है। इसमें ही चार 'ई' आती हैं। इसलिए यहां भी इसके उद्धार के सम्बन्ध में कादि विद्या का ही उद्धार देकर उसी को हम प्रधानता देते हैं। अस्तु, अब हम इसके प्रतीकों का वर्णन करते हैं क्योंकि वेद में भी इसे स्पष्ट न कहकर प्रतीक रूप से ही बताया है।

कामोयोनिः कमलेत्येवं सांकेतिकैः शब्दैः ।
व्यवहरति न तु प्रकटं यां विद्यां वेदपुरूषोऽपि ॥ ८ ॥

भावार्थ– 'कामो योनिः कमले' इत्यादि सांकेतिक शब्दों में ही वेद पुरुष ने इस विद्या का वर्णन किया है। इस विद्या को प्रकट या स्पष्ट रूप से नहीं कहा है।

टीका– " कामो योनिः कमला वज्रपाणिर्गुहाहसा मातरिश्वा-भ्रमिन्द्रः । पुनर्गुहासकला मायया च पुरुच्येषा विश्वमाताऽऽदिविद्या ।।" अर्थात् ब्रह्मसांख्यायन श्रुति के वचनानुसार कामो से मातरिश्वा (वायु) रूप ककार, योनि से एकार, कमला से ईकार यानि चौथा स्वर, वज्रपाणि (इन्द्र) से लकार, गुहा द्वयं से दो मायाबीज, हसेति से हस और सकलेति से सकल, मातरिश्वा से ककार, अभ्र से हकार और इन्द्र से लकार । इस प्रकार के संकेतों द्वारा इसका वर्णन गोपनीयतर रूप में समर्थित है ।

संगति– अब विद्या के वर्णों का उद्धार कहते हैं–

क्रोधीशः श्रीकण्ठारुढ़ः कोणत्रयं लक्ष्मीः ।
मांसमनुत्तररूढं वाग्भवकूटं प्रकीर्तितं प्रथमम् ।।९।।
शिवहंसब्रह्मवियच्छक्राः प्रत्येकमक्षरारूढाः ।
द्वैतीयीकं कूटं कथितं तत्कामराजाख्यम् ।।१०।।
शिवतो वियतो मुक्तं तृतीयमिदमेव शक्तिकूटाख्यम् ।
हल्लेखानां त्रितयं कूटत्रितयेऽपि योज्यमन्ते स्यात् ।।११।।

भावार्थ– प्रथम– वाग्भवकूट है । इसमें श्रीकण्ठ (अ) से आरुढ क्रोधीश (क), कोणत्रय यानि त्रिभुजरूप (ए), लक्ष्मी (ई) अनुत्तर अकार के साथ मांस (ल) आते हैं । दूसरा– कामराज कूट है । इसमें शिव (ह), हंस (स), ब्रह्मा (क), वियत् (ह), शक्र (ल) प्रत्येक अक्षर अकारारुढ है । तीसरा– शक्तिकूट है । इसमें के दो हकार (शिव एवं वियत्) (कामराज कूट) नहीं है, यह तीसरा शक्तिकूट कहा जाता है । प्रत्येक कूट के अन्त में एक–एक हृल्लेखा (ह्रीं) जोड़ लेना चाहिये ।

टीका– इसमें उपरोक्त वर्णन ही दुहराया गया है । अस्तु, तीनों कूटों का सम्पूर्ण श्रीविद्या मन्त्र है ।

हल्लेखायाः स्वरूपं तु व्योमाग्निर्वामलोचना ।
बिन्द्वर्धचन्द्ररोधिन्यौ नादनादान्तशक्तयः ।।१२।।
व्यापिकासमनोन्मन्य इति द्वादशसंहतिः ।
बिन्द्वादीनां नवानां तु समष्टिर्नाद उच्यते ।।१३।।

भावार्थ– हृल्लेखा के स्वरूप के अन्तर्गत ही व्योम रूप हकार, अग्नि रूप रेफ, वामलोचन ईकार, बिन्दु, अर्द्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति व्यापिका, समना और उन्मना ये बारह भाव आ जाते हैं। इनमें बिन्दु से उन्मना तक जो नव वर्ण हैं उनकी समष्टि को नाद कहते हैं।

टीका– हृल्लेखा में व्योमरूपी हकार, अग्नि रूपी रकार हलन्त है। वामलोचन शब्द ईकार का द्योतक है (बहिर्मातृका न्यास के अन्तर्गत)। इसके बिन्दु में नव (९) सूक्ष्म, सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम् काल में उच्चारित विशेष ध्वनियाँ हैं जो कि वर्ण विशेष कहलाती हैं। यह ककारादि वर्ण के समान स्पष्ट उच्चार्य नहीं हैं। अपितु एक तन्त्री वाद्य के समान ध्वनित हुआ सुनने में आता है। इसमें वर्णत्व के कारत्व का अभाव है। यह बीज– 'बिन्दु' ध्वनि रूप में ही तीनों कूटों में व्यवहृत होता है। तन्त्रों में इसका व्यवहार ध्वनि पद से ही हुआ है। अर्द्धचन्द्रादि भावों में इसे वर्ण रूप नहीं कहा है। इसी कारण अनुस्वार-विसर्ग आदि का वर्णत्व स्पष्ट नहीं होता है।

ऐसी स्थिति में किस प्रकार इनकी वर्ण संज्ञा करते हैं ? क्योंकि शंभु मत में 'त्रिषष्ठिश्चतु:षष्टिर्वा वर्णा: शंभुमते मता:" अर्थात् तिरसठ अथवा चौंसठ वर्णों को माना गया है। ऐसा पूर्वपक्ष बतलाकर अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार कहते हैं कि यदि यह उपरोक्त मत मान लिया जाय तो व्याकरण में अनुस्वार और विसर्ग को शिक्षा में कैसे ग्रहण किया जाता है, अस्तु, इसकी संगति लगानी चाहिए। इसका समाधान है कि सादृश्य संख्या के विरोध से इनके वर्णत्व लुप्त नहीं हैं। वहाँ उच्चारण के प्रसंग से इनकी गणना स्पष्ट ही मानी गई है। ताल्वादि स्थान की वर्ण परिगणना में स्थान भेद से इनके वर्णत्व की अभिव्यक्ति बताई गई है। जैसा उच्चारण का स्थान होगा तदनुरूप ही वर्ण की अभिव्यक्ति होगी, जैसे 'अकु: विसर्जनीयां कण्ठ:'। अस्तु, यदि इनकी इस प्रकार अभिव्यक्ति न मानी जाय तो पश्यन्ति आदि में व्याप्त वाक् पद की संगति नहीं लग सकती है। जैसा कि श्रुति वचन है–"चत्वारि वाक्परिमता पदानि' (ऋ. २–३–२२) इस श्रुति वचन में वर्ण-समूहात्मक पद से स्पष्ट ही उसका कथन आ जाता है। अतएव नित्या-

षोडष्कार्णव ग्रन्थ में नाद के साथ ही इनके वर्णों की संगति लगाई गई है। अस्तु, रथ के तुल्य घोष से इसकी व्युत्पत्ति नहीं लगाई जा सकती है। अत: जैसे एक विशेष कार्य की सिद्धि के लिए महेन्द्र स्तोत्र के पाठ करने का विधान है उसी प्रकार इसे समझना चाहिए। कहने का तात्पर्य है कि यह एक माना हुआ अनुभूत सत्य है। इसलिए रथ-घोष के समान जो लौकिक साधारण मनुष्य का स्मरण है ऐसा विचार न करके इसे एक विशेष मनुष्य का स्मरण विचार समझना चाहिए तभी उसमें शक्ति का योग होगा। प्रकृति में इससे विषमता नहीं आएगी। हृल्लेखा त्रय मानने से ही तिथि और अक्षरों की संख्या ठीक बैठती है। इस प्रकार प्रत्येक हृल्लेखा में हकार, रेफ, ईकार, अनुस्वार और नाद रूपी पञ्चक स्थित है। पञ्चदशाक्षर मन्त्र में युक्त जो 'ह्रीं' है, उसके नाद के व्यवहार का प्रतिपादन योगिनीहृदय में किया गया है। उसके मेरु मन्त्र में अर्द्धचन्द्र बिन्दु को भी वर्ण की संज्ञा दी गई है। मेरु मन्त्र महात्रिपुर सुन्दरी का ही मन्त्र है। मेरु मन्त्र 'ल, स, ह, ई, ए, र, क, ँ, ं'। ज्ञानार्णव तन्त्र में भी इसका इसी प्रकार व्यवहार देखा गया है। ध्वनि पद के व्यवहार में भी लक्षणा से उसका वर्ण के समान ही व्यवहार होता है। ध्वनि पर्याय से ही नाद पद वाच्य अर्थ की उसमें लक्षणा से उसकी संगति लगाई जाती है। यानी एक विशेष के साथ सामान्य का भी वर्णन होता है। इस प्रकार प्रथम कूट में तथा तीसरे कूट में अठारह-अठारह वर्ण हो जाते हैं। मध्यम कूट में चार और अधिक बढ जाते हैं। इस प्रकार श्रीविद्या के वर्णों की संख्या अट्ठावन हो जाती है, जो सिद्ध ही है। यद्यपि मन्त्रशास्त्र में बिन्दु से विनिर्मुक्त यह नाद संख्या अठारह नहीं हो सकती, परन्तु व्यवहार की की सुलभता के लिए उसके सहित ही उसे करके समझना चाहिए।

संगति– अब उसी को सिद्ध करते हैं–

प्रथमेऽष्टादश वर्णा द्वाविंशतिरक्षराणि मध्ये स्युः।
प्रथमेन तुल्यमन्त्यं संघातेनाष्टपञ्चाशत् ॥१४॥

भावार्थ– श्रीविद्या के प्रथम वाग्भव कूट में अठारह वर्ण हैं। मध्य कामराज कूट में बाईस वर्ण हैं, तथा तीसरे शक्ति कूट में भी पहले के समान अठारह वर्ण हैं। इस प्रकार सबका योग अट्ठावन वर्ण हुआ।

टीका– पञ्चदशी के कादि मन्त्र के वर्णों का उल्लेख इस प्रकार है–

वाग्भव कूट– क् अ ए ई ल् अ
२ १ १ २ =६

कामराज कूट– ह् अ स् अ क् अ ह् अ ल् अ
२ २ २ २ २ =१०

शक्ति कूट – स् अ क् अ ल् अ
२ २ २ =६

इन तीनों कूटों में अनुस्वार सहित हृल्लेखा के अक्षर भी जोड़ देना चाहिए –

हृल्लेखा– ह् र् ई . (बिन्दु)
९ १ १ ९ = १२

प्रत्येक कूट में एक-एक हृल्लेखा के जोड़ देने से वर्णों की संख्या इस प्रकार होगी–

वाग्भव कूट के ६ + हृल्लेखा के १२ यानि १८
कामराज कूट के १० + हृल्लेखा के १२ यानि २२
शक्ति कूट के ६ + हृल्लेखा के १२ यानि १८

इस प्रकार इन कूटों के तीनों हृल्लेखाओं सहित वर्णों का योग अट्ठावन (१८+२२+१८=५८) हो जाता है ॥ १४ ॥

संगति– अब वर्णों का काल कहते हैं ।

मात्राद्वितयोच्चार्या कामकला च त्रिकोणा च ।
विन्दुरहितहृल्लेखा मात्राकालत्रयोच्चार्या ॥ १५ ॥
अन्येषां वर्णानां मात्राकालोऽर्धमात्रया सहितः ।
बिन्दोरर्धं मात्रा परे परे चापि पूर्वपूर्वार्धाः ॥ १६ ॥
संहत्यैकलवोनो मात्राकालोऽस्य नादस्य ।

भावार्थ– श्रीविद्या मन्त्र के प्रत्येक वर्ण के उच्चारणकाल को वताते हुए कहते हैं– कामकला (ई) तथा त्रिकोण (ए) का उच्चारण-काल दो-दो मात्रा है । बिन्दु रहित (ह्री) का उच्चारणकाल तीन मात्रा है । अन्य वर्णों का उच्चारणकाल डेढ मात्रा है । बिन्दु का

उच्चारणकाल अर्द्ध मात्रा है। बिन्दु से उत्तरवर्ती जितने भी नाद रूपी वर्ण हैं उनका उच्चारणकाल अपने पूर्व नाद वर्ण से आधा होता चला जाता है। अर्थात् सूक्ष्मतर होता चला जाता है। इस प्रकार बिन्दु के अन्तर्वर्ती नादों का योग एक लव कम एक मात्रा होगा।

टीका— लघ्वक्षर अकार आदि के उच्चारण में जितना समय लगता है उसे मात्रा कहते हैं। गुरु अक्षर का दो गुणा काल होता है। इसलिए कामकला जो ईकार है तथा त्रिकोणाकार जो एकार है उनकी दो-दो मात्राएँ होती हैं। हृल्लेखा में दो व्यञ्जनों की एक मात्रा तथा कामकला की दो मात्राएँ मिलकर हृल्लेखा की तीन मात्राएँ हो जाती हैं। अन्य अकार सहित ककारादि दश वर्णों की एक-एक मात्रा तथा बिन्दु की व्यञ्जनों से अर्द्ध मात्रा होती है।

एक मात्रा ह्रस्व की होती है, दीर्घ की दो मात्राएँ कही जाती हैं तथा प्लुत की तीन मात्राएँ होती हैं। बिन्दु भी व्यञ्जन माना जाता है उसकी अर्द्ध मात्रा होती है। बिन्दु से आगे वाले वर्ण-अर्द्धचन्द्र, रोधिनी आदि अपने-अपने पूर्व-पूर्व से अर्द्धकाल वाले होते हैं। जैसे बिन्दु से आधा समय अर्द्धचन्द्र का और अर्द्धचन्द्र से आधा समय रोधिनी का होता है। इसी प्रकार आगे-आगे समझना चाहिये। काल का परमाणु भाव 'लव' कहलाता है। अर्थात् कमल-पत्र के एक समुदाय को यदि तीक्ष्ण सुई से एक साथ बेधा जाय तो जो काल प्रत्येक पत्र के छेदन में लगेगा उस एक पत्र के छेदन-काल को 'लव' कहेंगे। लव से सूक्ष्मतम काल की उपलब्धि नहीं होती है। इस प्रकार के २५६ लवों की एक मात्रा होती है। बिन्दु में १२८ लव होते हैं। अर्द्धचन्द्र में ६४, रोधिनी में ३२, नाद में १६, नादान्त में ८, शक्ति में ४, व्यापिका में २ और समना में १ (एक) लव होता है। उन्मना में कोई काल नहीं है। योगिनी हृदय के चक्र संकेत में बिन्दु को अर्द्ध-मात्रा वाला मानकर अर्द्धचन्द्र से लेकर शक्ति के पश्चात् व्यापिका और समना तक ही काल विभाग माना है। इस प्रकार उन्मनी काल विभाग रहित है। अमृतानन्दजी ने मनोन्मनी को समना का समानार्थक मानकर समना पर्यन्त ही काल विभाग माना है। उसके उपरान्त उन्मनी को कालान-वच्छिन्न ही माना है।

'ह्रीं' रहित मन्त्र का उच्चारण काल नीचे देते हैं –

	क	ए	ई	ल		
मात्रा–	१॥	२	२	१॥		= ७
	ह	स	क	ह	ल	
मात्रा–	१॥	१॥	१॥	१॥	१॥	= ७॥
	स	क	ल			
मात्रा–	१॥	१॥	१॥			= ४॥
					कुल	१९ मात्रा

अब हम बिन्दु रहित "ह्री" का उच्चारणकाल बताते हैं–

ह्रीं = ३ मात्रा

प्रत्येक कूट में तीन 'ह्री' होने के कारण मन्त्र में आए तीनों 'ह्री' का उच्चारणकाल ३ X ३ = ९ मात्रा होगा।

अब हम बिन्दु का उच्चारणकाल लिखते हैं–

. (बिन्दु) . १/२ मात्रा

बिन्दु के आगे नवनादात्मक वर्णों का उच्चारणकाल पूर्ववर्ती वर्ण से आधा माना गया है। अतएव वह इस प्रकार होगा–

बिन्दु	१/२	मात्रा
अर्द्धचन्द्र	१/४	मात्रा
रोधिनी	१/८	मात्रा
नाद	१/१६	मात्रा
नादान्त	१/३२	मात्रा
शक्ति	१/६४	मात्रा
व्यापिका	१/१२८	मात्रा
समना	१/२५६	मात्रा
उन्मना	१/५१२	मात्रा

इस प्रकार से बिन्दु का उच्चारणकाल एक लव न्यून एक मात्रा हुआ। तीनों कूटों में तीनों हृल्लेखाओं में तीन बिन्दु हैं, इसलिए तीनों बिन्दुओं का उच्चारणकाल तीन लव न्यून तीन मात्रा हुआ।

एकादश वाक्कूटे सार्धा एकादशोदिता मध्ये ॥१७॥
सार्धा अष्टौ शक्तावेकैकलवोनिता मात्राः ।
संहत्यैकत्रिंशन्मात्रा मन्त्रे लवत्रयमन्यूनाः ॥१८॥

भावार्थ– वाग्भव कूट में ११ (ग्यारह) मात्राएं, कामराज कूट में ११$^1/_2$ (साढे ग्यारह) मात्राएं और शक्ति कूट में ८$^1/_2$ (साढे आठ) मात्राएं हैं; परन्तु प्रत्येक कूट में एक-एक लव कम है। इस प्रकार जोड़ने से मन्त्र में तीन लव न्यून इकतीस मात्राएं होती हैं।

टीका– श्रीविद्या के सम्पूर्ण मन्त्र का उच्चारणकाल इस प्रकार होगा –

तीनों कूट (तीन हृल्लेखा रहित)	=	१९ मात्रा
तीनों हृल्लेखा (बिन्दु रहित)	=	९ मात्रा
तीनों बिन्दुओं का उच्चारणकाल	=	३ मात्रा – ३ लव
		३१ मात्रा – ३ लव

इस प्रकार तीनों कूटों का उच्चारणकाल तीन लव न्यून इकतीस मात्रा हुआ।

संगति– मन्त्रस्थ वर्णों का उत्पत्ति स्थान और यत्न कहते हैं।

कण्ठे च कण्ठतालुनि तालुनि दन्तेषु मूर्ध्नि नासायाम्।
स्पृष्टविवाराद्यान्तरबाह्यैर्यत्नैस्तदक्षरोत्पत्तिः ॥१९॥

भावार्थ– वर्णों का उदयस्थान कण्ठ है। कण्ठ से तालु, दन्त, मूर्धा, नासा। इस प्रकार इन विवरों से स्पर्श करते हुए विवारादि और स्पष्टादि (अन्तर) प्रयत्न से अक्षरों की उत्पत्ति होती है।

टीका– मन्त्रस्थ तीनों ककार, दश अकार और पाँच हकार कण्ठ स्थान से उत्पन्न होते हैं। दूसरा अक्षर एकार कण्ठ और तालु के योग से उत्पन्न होता है। चारों ईकार तालु से तीन लकार एवं दो सकार दन्त से, मूर्धा से तीन रेफ तथा नासिका से बीज (ह्रीं) के तीन बिन्दु आदि नवकों का उच्चारण होता है। ककारों का स्पृष्ट, अकारों का संवृत्त, ईकारों और एकार का विवृत्त, रेफों और लकारों का ईषत् स्पृष्ट (अन्तस्थ), हकारों और दो सकारों का ईषत्-विवृत्त और बिन्दु आदि नवकों का संवृत्ततम प्रयत्न है।

यह आभ्यन्तर प्रयत्न है। बाह्य प्रयत्नों में ककारों का विवार श्वास, अघोष तथा अल्पप्राण है। दो सकारों का विवार श्वास, अघोष तथा महाप्राण है। सब स्वरों, उदात्त रेफों और लकारों का संवार नाद-घोष तथा अल्पप्राण है। हकारों का संवार नाद, घोष तथा महाप्राण प्रयत्न है। बिन्द्वादि नवकों का आत्यन्तिक संवार नाद, घोष तथा महाप्राण प्रयत्न है। यह बाह्य प्रयत्न है ॥१९॥

संगति– अब वर्णों की स्थिति, स्थान तथा उनके रूप-आकार बताते हैं।

> प्रलयाग्निनिभं प्रथमं मूलाधारादनाहतं स्पृशति ।
> तस्मादाज्ञाचक्रं द्वितीयकूटं तु कोटिसूर्याभम् ॥२०॥
> तस्माल्ललाटमध्यं तार्तीयं कोटिचन्द्राभम् ।
> मालामणिवद्वर्णाः क्रमेण भाव्या उपर्युपरि ॥२१॥

भावार्थ– मूलाधार से प्रारम्भ कर अनाहत चक्र तक वाग्भव कूट है, जो प्रलयाग्नि के समान लाल वर्ण वाला है। अनाहत से आज्ञाचक्र तक कामराज कूट है, जो करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाशवान है। तीसरा शक्तिकूट है, जो ललाट के मध्य में करोड़ों चन्द्रमा के समान प्रकाशवान है। इन कूटों में माला के मणियों के समान क्रम से मूलाधार से ऊपर-ऊपर मन्त्र के वर्णों की भावना करनी चाहिए।

टीका– मूलाधार (से आरम्भ करके तथा) अनाहत (से आरम्भ करके तथा) एवं आज्ञा चक्र (से आरम्भ करके), ये तीन स्थान बिन्दु आदि रहित तीन कूटों के आरम्भ-स्थल हैं। मूलाधार से स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत तक प्रलयाग्नि के समान स्पर्श करता हुआ प्रथम कूट का विचार है। अनाहत चक्र से आज्ञाचक्र तक कोटि सूर्यों के समान प्रकाशवान दूसरे कूट का अनुभव होता है। आज्ञाचक्र से ऊपर ललाट मध्य तक कोटि चन्द्रप्रभा के समान तीसरा कूट स्थित है। इन तीन स्थानों में बिन्दु आदि से रहित ही ये तीन कुट है। सुषुम्ना नामक नाडी के दोनों सिरों पर एक-एक सहस्रदल कमल है। इन दो सहस्रदल कमलों के बीच में आठ और छः दल वाले तीस पद्म हैं, जिनका विस्तारपूर्वक वर्णन स्वच्छंदसंग्रह आदि तन्त्र ग्रन्थों में किया गया है। गुदा से दो अंगुल ऊपर से लेकर लिङ्ग,

नाभि, हृद, कण्ठ, भ्रूमध्य तक मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा नामक चक्र हैं, जिनमें क्रमसे चार, छः, दश, बारह, सोलह तथा दो दल हैं। इन प्रत्येक चक्रों के आदि और अन्त में एक-एक करके दो ग्रन्थियाँ हैं उनको ही चक्रपद से कहते हैं। इसका विस्तार से वर्णन आगे करेंगे ॥२०॥२१॥

"आधारोत्थितनादो गुण इव परिमाति वर्णमध्यगत ।

भावार्थ- आधार से उदित हुआ नाद रस्सी (सूत्र) के समान वर्णों के मध्य में स्थित हुआ, उन वर्णों के रूप में भी भासित होता हुआ अनुभव में आता है।

टीका- यहाँ पर शब्दों की उत्पत्ति का प्रकार बताते हैं। जिस प्रकार वटबीज में वट वृक्ष का सूक्ष्म रूप निहित रहता है उसी प्रकार नाद में शब्द सृष्टि भी सूक्ष्म रूप से विद्यमान है। इसका सर्व प्रथम रूप श्री त्रिपुरसुन्दरी का ही रूप है। जो शब्द सूक्ष्मरूप से प्रवृत्ति का मूल निमित्त है, उसी को 'परा' पद से कहा जाता है। यह 'माति' यानि मापती है, 'तरति' यानि तारती है तथा 'कार्यतीति यानि शब्द करती है। इन व्युत्पत्तियों के कारण ही इसे मातृका कहते हैं। यह निर्विकार शुद्ध नाद रूप है। उसमें प्राणियों के अदृष्टवशात् जो संहृत विश्व है उसकी पुनः सृष्टि होने के लिए इच्छा रूप से उसका उदय होता है। वह तब सृष्टि के उपयोग में आने वाले पदार्थों का निरीक्षण करती है। उसने इच्छा की कि 'मैं प्रजा रूप से बहुत हो जाऊँ' (छा० उ० ६-२-३) ऐसा श्रुति बचन है। इस प्रकार के ईक्षण के कारण ही जो प्रवृत्ति का निमित्त बनती है तब उसे ही 'पश्यन्ति' पद से कहते हैं। यह पश्यन्ति कही जाने वाली मातृका ही कारण यानि इन्द्रियों से अतीत होकर ही उदित होती है। इन्द्रियों से अतीत होने के कारण ही उसे 'उत्तीर्ण' कहा जाता है। उसी से उसके अवयव रूप में वामादि अष्ट शक्तियों का प्रपञ्च रूप से उदय होता है तब वही व्यष्टि और समष्टि भेद से नवरूप हो जाती है। इसी से नव नादों तथा शून्यादि का अविकृत परिणाम होता है। वही समष्टि में नाद ध्वन्यादि पदों से कही जाती है। तब वह न तो परा के समान अतिसूक्ष्म होती है,

न ही बैखरी के समान स्थूल होती है। तब उसे मध्यमा रूप मातृका कहते हैं । यह मध्य में स्थित अवयव रूप से अविकृत होकर शून्य, स्पर्श, नाद, ध्वनि, बिन्दु, शक्ति और बीजाक्षर रुप से कही जाती है। यही मूलाधारादि छः चक्रों में होती हुई नाद से नादान्त तक तथा ब्रह्मरन्ध्र तक नवनाद रूप में भी स्थित है। यह नव नाद ही अ, क, च, ट, त, प, य, श, ळ रूप से नवचक्र रूपा वैखरी मातृका कही जाती है।

अब 'वैखरी' शब्द के तीनों वर्ण जिस यथार्थ के प्रयोजक हैं उसकी व्याख्या करते हैं ।– 'वै'–निश्चय ही स्पष्ट होकर, 'ख'– कर्ण विवर (नभोरूप श्रोत्रेन्द्रिय) द्वारा, 'राति'–प्रवेश करती है एवं उस सम्बन्धित ज्ञान के विषय वाली होने से उसे 'वैखरी' कहते है।

अस्तु, इस व्युत्पत्ति के अनुसार ही वह आद्यन्त का विस्तार करती है । इस प्रकार वह ककारादि में कत्व आदि धर्मों के साथ ही 'षड्ज' आदि ध्वनियों के द्वारा अनुभूत होकर स्थित होती है। जैसे घट में मिट्टी देखी जाती है, उसी प्रकार वर्णों में नाद रूप से उसका अनुभव किया जा सकता है। जैसे एक तन्तु से बना हुआ वस्त्र 'वर्णक' कहा जाता है, इसी प्रकार यदि इस 'वर्णक' पद से 'क' प्रत्यय को त्याग दिया जाए तो फिर वह 'वर्ण' पद से ही कही जाएगी। इस 'वर्ण' पद में भिन्न पद श्लेष समझना चाहिए। यानि इसी के समान वर्ण पद से कही जाने वाली वह है, जो पद विशेष का उपादान कारण तन्तु है। वही सूत्र विशेष है, जिसमें मणियाँ पिरोई रहती हैं, तथा जो मणियों का आधारभूत कारण सूत्र है जो वर्ण के मध्य में वर्ण रूप से उनके शरीरान्तर भाग में एक मणि से दूसरी मणि के मध्य में भी स्थित है इसका भाव है कि दो वर्णों के मध्य भाग में जो शुद्ध सूत्र है वही वर्णों के शरीरान्तर भाग में पद भेद से समान रूप से, घट में मिट्टी के समान ही, वर्ण में नाद का ही भान होता है। यहां यह बात समझ लेनी चाहिए कि माला में जैसे मणियाँ और सूत्र अलग-अलग होते हैं, उस प्रकार यह नहीं है, अपितु यहां जो नाद सूत्र रूप में है वही नाद वण रूप होकर भासित होता है। यानि मणि और सूत्र दोनों अभिन्न नाद रूप ही हैं तथा इसी प्रकार भासित भी होता है।

संगति– अब बचे हुए बिन्दु आदि नौ वर्णों की स्थिति और स्थान-रूप को बताते हैं –

मध्येफालं बिन्दुर्दीप इवाभाति वर्तुलाकार: ॥२२॥
तदुपरि गतोऽर्धचन्द्रोऽन्वर्धः कान्त्या तथाऽऽकृत्या ।
अध रोधिनी तदूर्ध्वं त्रिकोणरूपा च चन्द्रिकाकान्तिः ॥२३॥
नादस्तु पद्मरागवदण्डद्वयमध्यवर्तिनीव सिरा ।
नादान्तस्तडिदाभः सव्यस्थितबिन्दुयुक्तलाङ्गलवत ॥२४॥
तिर्यग्बिन्दुद्वितये वामोद्गच्छत्सिराऽऽकृतिः शक्तिः ।
बिन्दुद्गच्छत्त्र्यश्राकारधरा व्यापिका प्रोक्ता ॥२५॥
ऊर्ध्वाधोबिन्दुद्वयसंयुक्तरेखाऽऽकृतिः समना ।
सैवोर्ध्वबिन्दुहीनोन्मना तदूर्ध्वं महाबिन्दुः ॥२६॥
शक्त्यादीनां तु वपुर्द्वादशरविकान्तिपुञ्जाभम् ।

भावार्थ – ललाट के मध्य में एक गोलाकार दीपशिखा के समान बिन्दु भासित होता है । उसके ऊपर अर्द्धचन्द्र आकृति और कांति में समान रूप से भासित होती है । इसके ऊपर त्रिकोणाकार रोधिनी चन्द्र-कांति के समान भासित होती है । इसके ऊपर दो अण्डों के मध्य् नाद पद्मराग की कांति के समान वर्तमान नाडी की भाँति भासित होता है । इसके ऊपर दो अण्डों के मध्य स्थित बिन्दु हल की आकृति में नादान्त का भान विद्युतआभा के समान होता है । इसके ऊपर दो तिरछे बिन्दुओं के वाम भाग में सिरा की आकृतिवाली शक्ति का भान होता है । इसके ऊपर त्रिकोणाकार बिन्दु से निसृत व्यापिका का भान होता है । समना की आकृति में एक ऊर्ध्व बिन्दु है और एक अधः बिन्दु है और ये दोनों बिन्दु एक रेखा से संयुत हैं । यही समना की आकृति जब ऊर्ध्व बिन्दु विहीन होती है तो वह उन्मना की आकृति बन जाती है । इसके ऊपर महाबिन्दु है । शक्ति, व्यापिका और समना का स्वरूप बारह सूर्यपुञ्जों के समान भासमान है ।

टीका– ललाट के मध्य एक गोलाकार बिन्दु में नाद का पहला अनुभव है । इसके ऊपर अर्द्धचन्द्र भासित होता है, जो चन्द्रमा के अर्द्धभाग रूप और आभा में समान ही है । इसके ऊपर त्रिकोणाकार

रोधिनी का रूप है जिसका एक सिरा या कोण नीचे को होता है तथा उसके दोनों कोण ऊपर को फैले अनुभव होते हैं। तथा अर्द्धचन्द्र एक सूक्ष्म प्रकाशरूप रेखा में उसके बाँये होता है। इसके आगे नाद का अनुभव है जो दो बिन्दुओं के मध्य एक पतली बाल जैसी रेखा में दीप्तमान हुआ भाव देखा जाता है। इन दोनों बिन्दुओं में नाद के रूप को समझने के लिए एक काकनेत्र-बिन्दु की उपमा दी गई है। जिससे यह भाव निकलता है कि जैसे काक का एक ही नेत्र-बिन्दु दोनों नेत्र गोलकों में काम करता है, उसी प्रकार सूक्ष्म मणि के समान दीप्तमान रेखा के दोनों ओर बिन्दुओं में नाद का भान होता है। इस नाद के ऊपर हल की आकृति रूप से नादान्त जाना जाता है। इस हलाकृति के वाम भाग में अर्द्धचन्द्राकार सूक्ष्म रेखा होती है। हल का शिरोभाग अर्द्धचन्द्राकार रेखा और हल की दण्डाकार रेखा के मध्य से ऊर्ध्व की ओर जाता हुआ दृष्टिगत होता है। तत्पश्चात् शक्ति का स्वरूप है जो नादान्त से ऊपर गति करता हुआ एक बिन्दु में आता है साथ ही दूसरे समकक्ष बिन्दुओं में जाकर ऊपर एक रेखा रूप में ऊर्ध्व में जाता है। शक्ति के ऊर्ध्व भाग में नाद की आकृति को व्यापिका कहा जाता है। इस व्यापिका के स्वरूप में एक बिन्दु और उसके ऊपर अधोमुखी त्रिकोण एवं वाम भाग में पतली अर्द्धचन्द्राकार रेखा है। इसके ऊर्ध्व में दो बिन्दुओं के मध्य में एक शिरोरेखा की भाँति नाद का स्वरूप समना कहलाता है। इस आकृति को यदि इसके ऊर्ध्व बिन्दु से विहीन कर दिया जाय तो यह उन्मना का आकृति-रूप बन जाता है। इसके ऊपर महाबिन्दु का पूर्णबिन्दु शिवशक्त्यात्मक शक्ति, व्यापिका, समना का स्वरूप है, जिसकी आभा बारह सूर्यपुञ्जों के समान है। यह ब्रह्मरन्ध्र तक द्वादश भावों की स्थिति का रूप मानव-शरीर में है। इसी को श्रीचक्रराज में श्लिष्ट करके समझाया गया है।

समना तक ही विषय से सम्बद्ध मन की गति का रूप है। इसके उपर मन का अतिक्रमण होने पर उन्मना रूप प्रकृति का अनुभव है, जो चक्रराज की त्रिविध भावना के अन्तर्गत निराकल भावना का रूप है। जिसके ऊपर महाबिन्दु का अनुभव है। इसका विस्तार से वर्णन स्वच्छंद-संग्रह तन्त्र में देखना चाहिए।

संगति– अब वर्णों के उच्चारण का प्रकार बताते हैं–

इत्येवं वर्णानां स्थानं ज्ञात्वोच्चरेद्यत्नात् ॥२७॥
नादः प्राथमिकस्तु द्वितीयकूटेन साकमुच्चार्यः ।
द्वैतीयीकं नादं तार्तीयेनोच्चरेन्न पृथक् ॥२८॥
बिन्द्वादिनवकयोस्तु प्राक्तनकूटस्थयोरनयोः ।
संमेललेन शबलं तार्तीयीकं विभावयेत्कूटम् ॥२९॥
बिन्द्वादिकसमनान्तं क्रमेण तार्तीयमुच्चरेन्नादम् ।
उन्मयन्तर्लीनं विभावयेदेतदुच्चरणम् ॥३०॥

भावार्थ– इस प्रकार वर्णों का उत्पत्ति-स्थान और स्थिति स्थान जानकर यत्नपूर्वक उच्चारण करना चाहिए । वाग्भव नामक प्रथम कूट में स्थित बिन्द्वादि नवक नाद का उच्चारण द्वितीय कामराज नामक कूट में स्थित बिन्द्वादि नवक नाद के साथ लगातार करना चाहिए । पृथक-पृथक नहीं करना चाहिए । इसी प्रकार द्वितीय कूट के नाद का उच्चारण तृतीय कूट के साथ करना चाहिए । इनका पृथक-पृथक उच्चारण नहीं करना चाहिये । तृतीय कूट में प्रथम और द्वितीय कूटस्थ नवकों के मिलने से उत्पन्न चित्र की भावना 'चितकबरे' के रूप में करनी चाहिए । इन सब नादों के उच्चारण की ध्वनि का अन्तरभाव उन्मना में हो जाता है । यानि यह नाद-ध्वनि उन्मना में लीन हो जाती है । ऐसी भावना करनी चाहिए ।

टीका– स्थान से तात्पर्य यहाँ कण्ठादि उत्पत्ति स्थान तथा मूलाधारादि स्थित स्थान से है । यत्न से तात्पर्य बाह्य और अन्तर यत्न से है । यह मानसजप से अतिरिक्त विषय है । इसलिए उस स्थान और प्रयत्न की विशेष उपयोगिता विचारणीय है । नाद से तात्पर्य बिन्द्वादि नवक से है । पूर्व-पूर्व कूट में स्थित नाद का उच्चारण उत्तर-उत्तर कूट के नाद के साथ करने का प्रयत्न कहा गया है; क्योंकि इनके पृथक-पृथक उच्चारण में काल का क्रम टूट जाता है । इसलिए पहले के साथ दूसरा तथा दूसरे के साथ तीसरा मिलकर लगातार चलना चाहिए ।

संगति– विद्या का जो उच्चारणस्वरूप कहा है, अब उस उच्चारण काल का निचोड़ बताते हैं –

आद्ये दश मध्ये ताः सार्धास्तार्तीयकूटे इष्टौ ।
एकलवोना ऊनत्रिंशन्मात्रा भनोर्षपे कालः ॥३१॥

भावार्थ– प्रथम कूट में दश मात्राएं हैं। मध्यम कूट में साढे दस मात्राएं हैं, तथा तीसरे कूट में साढे आठ मात्राएं हैं। इस प्रकार सब मिलकर एक लव कम उन्तीस मात्राएं हैं। यह मन्त्र का जपकाल माना गया है।

टीका– वाग्भव कूट में दश मात्राएं हैं। कामराज कूट में साढे दश मात्राएं हैं तथा शक्ति कूट में आठ मात्राएं हैं, जिसमें एक लव न्यून है। यह कुल मिलाकर एक लव न्यून उन्तीस मात्रा काल जप में माना गया है। ये मात्राएं वाचक जप में हैं, मानस जप में नहीं हैं। जहाँ प्रथम और द्वितीय कूट का न्यासादि के साथ संध्या के अङ्गभूत में ही कूटों के जप का विधान है, उसके उच्चारण में कूटों के लिए जो विनियोग विधि है उसके लिए इसकी सार्थकता है। इसलिए इसे जानना चाहिए। तीनों कूटों का अलग-अलग उच्चारण करने से उच्चारण काल तीन लव न्यून इकतीस मात्राएं होता है। परन्तु यहाँ प्रथम कूट के नाद का द्वितीय कूट के नाद के साथ तथा द्वितीय कूट के नाद का तृतीय कूट के नाद के साथ उच्चारण होने से सम्पूर्ण मन्त्र का उच्चारण काल एक लव न्यून उन्तीस मात्राएं होगा।

संगति– अब व्यष्टि और समष्टि भेद से चार भेद वाले तीनों कूटों का विशेष स्वरूप बताते हैं –

व्यष्टिसमष्टिविभेदादस्यां चत्वारि बीजानि ।
सृष्टिस्थितिसंहारानाख्यारूपाणि भावनीयानि ॥३२॥
पुटधामतत्वपीठान्वयलिङ्गकमातृतत्समष्टीनाम् ।
रूपान्तराणि बीजान्यमूनि चत्वारि चिन्तनीयानि ॥३३॥

भावार्थ– इस विद्या में तीनों कूटों के द्वारा व्यष्टि और समष्टि के भेद से सृष्टि, स्थिति, संहार और अनाख्या नामक चार बीजों की भावना करनी चाहिए। ये चारों बीज, पुट, धाम, तत्व, पीठान्वय, लिङ्गक, मातृ और इन सबकी पृथक-पृथक समष्टि के रूपान्तर हैं। इस प्रकार चिन्तन करना चाहिए।

टीका– तिरोधान और अनुग्रह की समष्टि अनाख्या है। अस्तु, कृत्यपञ्चक–सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह में उदासीन भावात्मक शान्तावस्था के चार भेद होते हैं। इनके पाँचों रूपों के अवलम्बन में उदासीनतापूर्वक अवस्थान विशेष ही व्यष्टि का रूप है। पञ्चकृत्यों से उदासीन आलम्बन द्वारा जो एक विशेष स्थिति में स्थित होता है उसे भी अनाख्या कहते हैं। छहों पुट, सातों धाम तीन-तीन रूप वाले पृथक-पृथक हैं तथा इन तीनों की एक समष्टि है। इस प्रकार यह सब चार-चार भेद वाले हैं।– जैसे पुट-ज्ञातृ, ज्ञान, ज्ञेय और इन तीनों का सामरस्य। इस प्रकार यह चार हुआ। इसी प्रकार धाम– चक्र, नाथ, दशा, शक्तित्रय और आत्मा यह सात हुए। इनके भी चार-चार रूप होते हैं। जैसे चक्र के अग्निचक्र, सूर्यचक्र, सोमचक्र और ब्रह्मचक्र। नाथ के मित्रेशनाथ, षष्ठीशनाथ, उड्डीशनाथ और चर्यानाथ। दशा के जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्त और तुरीय। शक्ति के कामेश्वरी, वज्रेश्वरी, भगमालिनी और त्रिपुर सुन्दरी। तथा त्रय– इच्छा, ज्ञान, क्रिया और अम्बिका। तथा आत्मा के आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा और ज्ञानात्मा। तत्व– आत्मतत्व, विद्यातत्व, शिवतत्व और सर्वतत्व। पीठ– कामरूप, पूर्णगिरी, जालन्धर और उड्डीयान। आम्नाय का अन्वय– पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर। अस्तु, समय पद से आम्नाय पद को ही कहा है। लिङ्गानि– स्वयंभू, वाण, इतर और पर। तथा मातृका-पश्यन्ति, मध्यमा, वैखरी और पराधाम पद कहे हुए शक्तित्रय ही मातृपद से कहे जाते हैं।

उपरोक्त को तालिका द्वारा इस प्रकार बताया जा सकता है–

संगति– अब प्रत्येक अक्षर का स्वरूप बताया जाता है।

एकैकस्मिन कर्मणि सृष्ट्यादिविभेदतस्त्रिविधे।
ब्रह्माद्या अधिपतयो भारत्यादिस्वशक्तिभिः सहिताः ॥३४॥
ब्रह्मादयस्त्रयोऽमी भारत्याद्याश्च शक्तयस्तिस्रः।
प्रत्यक्षरस्वरूपाः शाक्तार्थे वक्ष्यमाणया रीत्या ॥३५॥

भावार्थ– एक ही कर्म सृष्ट्यादि भेद से तीन प्रकार का होता है; जिसमें ब्रह्मा आदि अधिपति तथा भारती आदि शक्तियाँ संयुक्त है।

तालिका – १

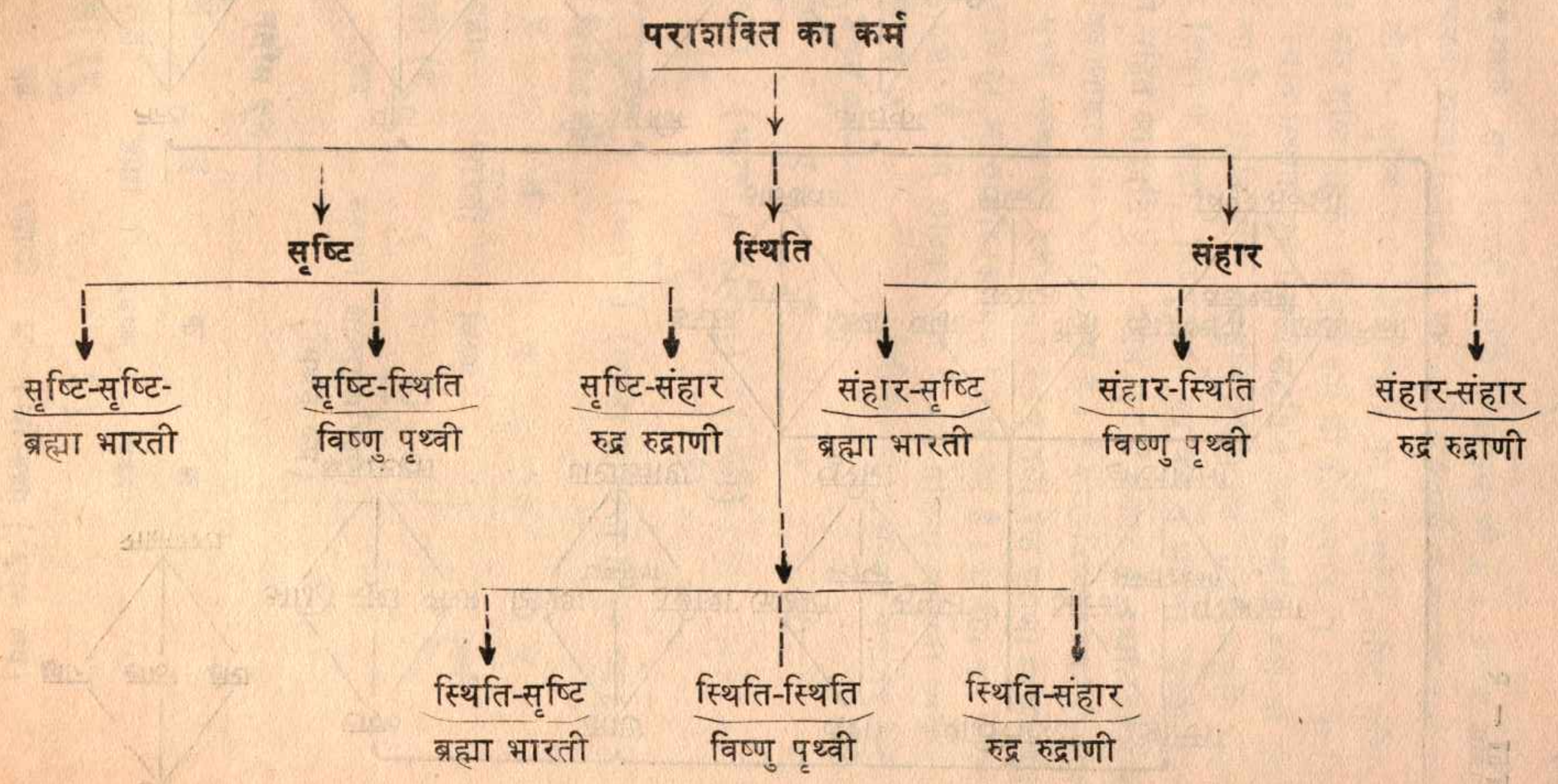
पराशक्ति का कर्म
सृष्टि
स्थिति
संहार
सृष्टि-सृष्टि-
ब्रह्मा भारती
सृष्टि-स्थिति
विष्णु पृथ्वी
सृष्टि-संहार
रुद्र रुद्राणी
संहार-सृष्टि
ब्रह्मा भारती
संहार-स्थिति
विष्णु पृथ्वी
संहार-संहार
रुद्र रुद्राणी
स्थिति-सृष्टि
ब्रह्मा भारती
स्थिति-स्थिति
विष्णु पृथ्वी
स्थिति-संहार
रुद्र रुद्राणी

तालिका – २

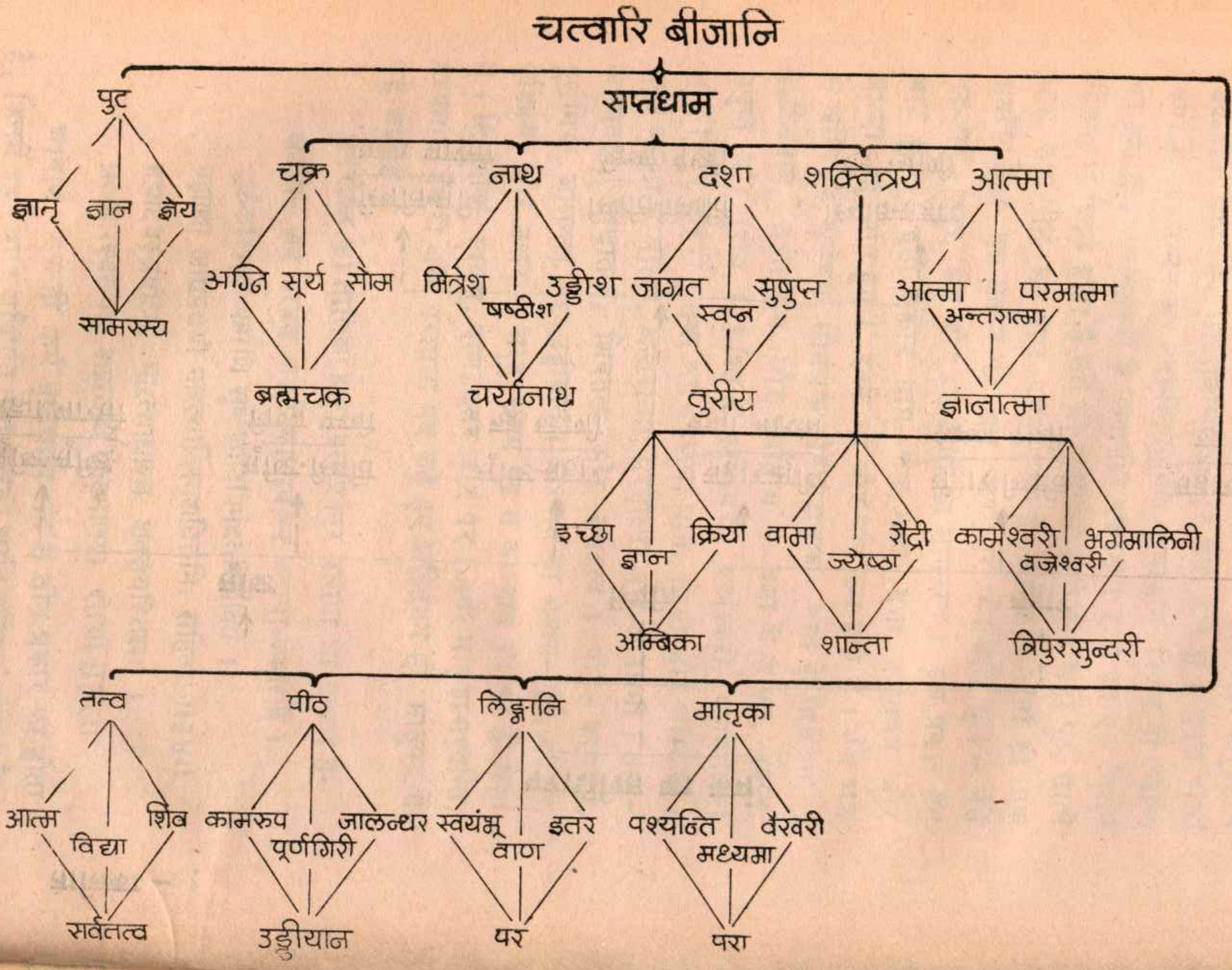
चत्वारि बीजानि
सप्तधाम
पुट
ज्ञातृ ज्ञान ज्ञेय
सामरस्य
चक्र
अग्नि सूर्य सोम
ब्रह्मचक्र
नाथ
मित्रेश षष्ठीश उड्डीश
चर्यानाथ
दशा
जाग्रत स्वप्न सुषुप्त
तुरीय
शक्तित्रय
इच्छा ज्ञान क्रिया
अम्बिका
वामा ज्येष्ठा रौद्री
शान्ता
कामेश्वरी वज्रेश्वरी भगमालिनी
त्रिपुरसुन्दरी
आत्मा
आत्मा अन्तरात्मा परमात्मा
ज्ञानात्मा
तत्व
आत्म विद्या शिव
सर्वतत्व
पीठ
कामरूप पूर्णगिरी जालन्धर
उड्डीयान
लिङ्गानि
स्वयंभू वाण इतर
पर
मातृका
पश्यन्ति मध्यमा वैखरी
परा

ब्रह्मादि-त्रयके साथ भारती आदि शक्तित्रय भी हैं। प्रत्येक अक्षर के स्वरूप में इनकी स्थिति है। यह आगे शक्त्यार्थ में बताया जाएगा।

टीका– सृष्टि कर्म तीन प्रकार का है– सृष्टि-सृष्टि, सृष्टि–स्थिति और सृष्टि-संहृति। स्थिति कर्म भी तीन प्रकार का है– स्थिति-सृष्टि, स्थिति-स्थिति एवं स्थिति-संहृति। एवं संहृति कर्म भी तीन प्रकार का है– संहृति-सृष्टि, संहृति-स्थिति एवं संहृति-संहृति। इन प्रत्येक त्रिकों के ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र क्रम से भारती, पृथ्वी और रुद्राणी सहित अधिपति हैं। प्रथम कूट में ककार ही ब्रह्मा स्वरूप है तथा त्रिकोणाकार 'ए' भारती रूप है। ई कार विष्णु स्वरूप है और लकार पृथ्वी स्वरूप है। हकार रूद्र रुप है तथा रेफ रुद्राणी स्वरूप है। एवं ईकार ही शान्ताअम्बिकात्मक मिथुन रूप है। द्वितीय कूट में जो मध्यम हकार है उसे छोड़कर शेष में यही प्रक्रिया समझनी चाहिए।

तालिका नं २ (तालिका नं. १ संलग्न पन्ने पर देखें)

प्रथम कूट--

क (ब्रह्मा) ए (भारती) ई (विष्णु) ल (पृथ्वी) ह्री

(ह् (रुद्र) र् (रुद्राणी) ई) (शान्ता अम्बिका मिथुन रूप)

द्वितीय कूट--

ह ब्रह्मा स भारती क विष्णु ह ल पृथ्वी

ह्री (ह् रुद्र र् रुद्राणी ई) शान्ता-अम्बिका (मिथुन रूप)

तृतीय कूट--

स भारती ह ब्रह्मा क विष्णु ल पृथ्वी

ह्री (ह् रुद्र र् रुद्राणी ई) शान्ता-अम्बिका (मिथुन रूप)

तीसरे कूट में दूसरे कूट के छोडे हुए हकार को ब्रह्मा स्वरूप समझकर सकार को भारती से आरम्भ करके ब्रह्मा स्वरूप हकार को दूसरे स्थान पर लेना चाहिए। क्योंकि यह तीसरा शक्तिकूट होने से शक्ति की प्रधानता के कारण इसका ऐसा पहला निर्देश है। इस बात को हम आगे शक्त्यार्थ में कहेंगे। उक्त वर्णन को निम्न तालिकाओं द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है :–

उपरोक्त विवरण में तीनों हृल्लेखाओं के बिन्दुओं का स्वरूप नहीं बताया गया है जो आगे बताया जाएगा।

संगति– अब हम अवशिष्ट बिन्दुओं का स्वरूप बताते हैं :–

हृल्लेखाकामकला सपरार्धकलाख्यकुण्डलिन्युत्थाः।
नादाश्चक्रत्रितयत्रितयात्मानो विभावनीयाः स्युः ॥३६॥

भावार्थ :– हृल्लेखा, कामकला और सपरार्धकला ये उत्थित कुण्डलिनी के रूप हैं। इनकी नाद और चक्रों में तीन-तीन रूपों में भावना करनी चाहिए।

टीका :– प्रथमकूट में जो हृल्लेखा के अन्तर्गत कामकला रूप ईं है, इसे गुरुमुख से जानना चाहिए। वही सपरार्ध या हार्धकला वह्नि रूपा कुण्डलिनी का रूप है। द्वितीय कूट में वह सूर्य कुण्डलिनी रूपा है तथा तीसरे कूट में सोम कुण्डलिनी रूपा कही जाती है। तीनों बिन्दुओं का समष्टि रूप नाद है। वही कुण्डलिनी से उत्पन्न होकर दीपशिखा के ऊपर कज्जल रेखा के समान प्रकट होता है। वही अनाहत से उदित होता है तथा नाद रूप ही त्रैलोक्यमोहन, सर्वाशापरिपूरक और सर्वसंक्षोभण चक्रों के तीन रूप में त्रिविध सृष्टि (सृष्टि-सृष्टि, सृष्टि-स्थिति, सृष्टि-संहार) के रूप में स्थित है। तथा जो भ्रूमध्य से उदित नाद है वही सर्वसौभाग्यदायक, सर्वार्थसाधक और सर्वरक्षाकर चक्रों के तीन रूपों में स्थिति (स्थिति-सृष्टि, स्थिति-स्थिति, स्थिति-संहार) रूप से अपर रूप है। तथा जो बिन्दु स्थान से उदित नाद है वही सर्वरोगहर, सर्वसिद्धिप्रद और सर्वानन्दमय इन तीनों चक्रों का तीन प्रकार के संहारों (संहार-सृष्टि, संहार-स्थिति, संहार-संहार) का अपर रूप है ऐसी भावना करनी चाहिए।

संगति :– अब अवस्था पञ्चक, शून्य षट्क तथा विषुव सप्तक के साथ दश इन्द्रियादि की अवस्थाओं का विचार सोलह श्लोकों द्वारा किया जाता है ।

इन्द्रियदशकव्यवहृतिरूपा या जागरावस्था ।
तत्र प्रकाशरूपो हेतुर्भाव्यस्तृतीयगे रेफे ॥३७॥

भावार्थ– दशों इन्द्रियों का व्यवहार ही जागृत अवस्था है। उसके प्रकाश रूप हेतु की भावना तीसरे कूट के रेफ में करनी चाहिए।

टीका– पाँच कर्मेन्द्रियाँ– वाक्, पाद, हस्त, उपस्थ और पायु हैं। तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ– घ्राण, रसना, चक्षु, श्रोत्र और त्वचा हैं। ये दशों इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों के व्यवहार में संलग्न रहती हैं तब उसे जाग्रत अवस्था कहते हैं। उसकी हेतु रूप से ज्ञानावस्था में प्रकाश रूप से तीसरे कूट के रेफ स्थान में भावना करनी चाहिए।

अन्तःकरणचतुष्कव्यवहारः स्वाप्निकावस्था ।
सा तार्तीयेकाराद्बोध्यापि गलस्थले चिन्त्या ॥३८॥

भावार्थ– मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार रूप जो चतुष्क अन्तःकरण हैं, उसकी व्यवहारिक दशा ही स्वप्नावस्था है। उसे तीसरे कूट की कामकला में जानना चाहिए, तथा दूसरे लकार में उसकी भावना या चिन्तन करना चाहिए।

टीका– मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार रूप जो चैतन्यता के चार करण हैं, उनकी व्यावहारिक अवस्था का नाम ही स्वप्नावस्था है। उसकी उत्पादिका प्रकाश रूप में तृतीय कूट की हृल्लेखा में स्थित कामकला 'ईं' है। द्वितीय कूट के लकार रूप में उसकी भावना करनी चाहिए क्योंकि इसी में उसका रूप निहित है।

आन्तरवृत्तेर्लयतो लीनप्रायस्य जीवस्य ।
वेदनमेव सुषुप्तिश्चिन्त्या तार्तीयबिन्दौ सा ॥३९॥

भावार्थ– अन्तरवृत्ति में लीन वेदनमात्र ही जीव का स्वरूप है। तृतीय कूट के बिन्दु में सुषुप्ति रूप से उसकी भावना करनी चाहिए।

टीका– विवरणमत ग्रन्थ का कथन है कि आत्मसुख अज्ञान विषयक है। यह तीनों (जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति) अविद्या की वृत्तियाँ हैं।

अर्थात् अन्तःकरण इन वृत्तियों का ही परिणाम है। वार्तिककार (मण्डन) का मत है कि सामान्य वृत्तियों का अभाव ही सुषुप्ति अवस्था है। इसकी तीसरे कूट के बिन्दु में अपने ललाट देश में भावना करनी चाहिए।

तुर्यावस्था चिदभिव्यञ्जकनादस्य वेदनं प्रोक्तम्।
तद्भावनार्धचन्द्रादिकं त्रयं व्याप्य कर्तव्याः ॥४०॥

टीका– जब चिद् अभिव्यञ्जक नाद का अनुभव होता है तो उसके संवेदन रूप को ही तुरीयावस्था कहते हैं। उसकी अर्द्धचन्द्र, रोधिनी तथा नाद में व्याप्त रूप से भावना करनी चाहिए, क्योंकि उसी में उसकी स्थिति है।

आनन्दैकघनत्वं यद्वाचामपि न गोचरो नृणाम्।
तुर्यातीतावस्था सा नादान्तादिपञ्चके भाव्या ॥४१॥

टीका– तुर्यातीतावस्था आनन्दघन रूप है। यह मानव की वाणी का विषय नहीं है। इसकी नादान्त, निरोधिका, व्यापिका, समना और उन्मना रूप पञ्चक में भावना करनी चाहिए।

तार्तीयीके रेफस्थाने बिन्दौ च रोधिन्याम्।
नादान्तव्यापिकयोश्चन्द्रकतुल्यानि पञ्च शून्यानि ॥४२॥
उन्मन्यां नीरूपं षष्ठं चिन्त्यं महाशून्यम्।

भावार्थ- तीसरे कूट के रेफ स्थान, बिन्दु, रोधिनी, नादान्त और व्यापिका में मयूरपिच्छ के समान पाँच शून्यों की स्थिति है। तथा उन्मनी में छठा शून्य निराकार रूप में चिन्तनीय है, इसे ही महाबिन्दु कहते हैं।

टीका– चन्द्रक से यहाँ तात्पर्य मयूरपिच्छ के समान चन्द्राकार रूप शून्य से है। स्वच्छन्द संग्रह में कहा है–

मयूरपिच्छ के समान चित्र रूप मण्डल में पञ्चशून्यों की स्थिति है, तथा अनुत्तर शून्य को परमव्योम रूप से ध्यान करना चाहिए। यही महाशून्य है। देवी के जो अग्नि आदि द्वादश स्थान हैं उनमें तीन-तीन को छोड़कर जो तीन शून्यों की स्थिति है अर्थात् प्रथम तीन और अन्तिम तीन को छोडकर बीच में एक के बाद एक

शून्य की स्थिति से तीन शून्यों की स्थिति समझनी चाहिए। इन तीन शून्यों से परे स्थान में महाशून्य की भावना करनी चाहिए।

यह बात पूजा-सकेत मं कही गई है कि रेफादि से महाबिन्दु तक जो द्वादश स्थान हं उनमें तीन-तीन को छोड़कर एक के बाद मध्य में एक-एक की स्थिति है। इस प्रकार तीन शून्यों को जानना चाहिए, अर्थात् अर्द्धचन्द्र, शक्ति महाबिन्दु रूप में तीन शून्य हैं। इनके ऊर्ध्व में चतुर्थ बिन्दु हे।

अथवा आदि और अन्त के तीन-तीन को छोड़कर मध्य में अर्द्धचन्द्र से व्यापिका पर्यन्त तीनों की स्थिति एक-एक छोड़कर हैं। तथा इनके परे चौथा व्यापिका में महाशून्य है जो स्पष्ट ही प्रतीत होता हं। शून्यषटक, अवस्थापञ्चक और सप्त विषुव की भावना मानस जप काल में करनी चाहिए।

इसका पूर्व वर्णन से विरोध होता है तथा इसका अर्थ भी अन्य प्रकार का है, तथापि अग्न्यादि से भिन्न पदों में तीन शून्यों का अन्वय कर लेना चाहिए। फिर रेफ से आरम्भ करके एक को छोड़ एक स्थित मानकर इन्हें समझना चाहिए। इस प्रकार एक को छोड़कर एक शून्य की स्थिति हो जाती है। प्रथम शून्य रेफ स्थानीय होगा तथा व्यवधानों को छोड़कर अर्द्धचन्द्र, नाद, शक्ति, समना में जाकर यह षटक सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार तीन-तीन भाव ही द्विगुणित होकर यह पूरे बारह छः में बँट जाएगा। तीन शून्य के तीन अशून्य से मिलकर षट्क का अर्थ लग जाता है। इनके मध्य में वह पर चरम महाशून्य उन्मना में स्थित हो जाएगा। इस भावना में परम रहस्य छिपा है, इसलिए बडे क्लेश से इसका वर्णन हो सका है।

शून्य षट्क का निरूपण तीन प्रकार से बताया गया है, इसकी तालिका इस प्रकार है-

प्रथम प्रकार	द्वितीय प्रकार	तृतीय प्रकार
र	र	र
ई	ई	ई
बिन्दु	बिन्दु	बिन्दु

अर्द्धचन्द्र– ०	अर्द्धचन्द्र– ०	अर्द्धचन्द्र– ०
रोधिनी	रोधिनी	रोधिनी
नाद– ०	नाद–	नाद– ०
नादान्त	नादान्त	नादान्त
शक्ति– ०	शक्ति– ०	शक्ति– ०
व्यापिका	व्यापिका	व्यापिका–महाशून्य
समना	समना	समना
उन्मना	उन्मना	उन्मना
महाबिन्दु	महाबिन्दु	महाबिन्दु
[इन तीन शून्यों से परे स्थान में महाशून्य की स्थिति है ।]	[इससे परे स्थान में चतुर्थ शून्य की स्थिति है । पूजा संकेत में ऐसा कहा गया है ।]	[इसमें व्यापिका में महाशून्य की स्थिति है ।]

संगति– अब क्रम से सप्त विषुवों का वर्णन करते हैं ।

प्राणात्ममानसानां संयोगः प्राणविषुवाख्यः ॥४३॥

भावार्थ– प्राण, मन और आत्मा का संयोग ही प्राणविषुव कहा जाता है ।

टीका– मन्त्र में ककारादि वायु ही प्राण है । आत्मा, प्राण और मन का एक हो जाना ही प्राण-विषुव कहा जाता है । ऐसी ही श्रुति की मान्यता है ।

संगति– अब मन्त्र विषुव कहते हैं ।

प्राथमिककूटनादे त्वनाहताद् ब्रह्मरन्ध्रान्ते ।
व्यष्टिसमष्टिविभेदाद् बीजचतुष्कस्य च स्वस्य ॥४४॥
ऐक्येन नादमयताविभावनं मन्त्रविषुवाख्यम् ।

भावार्थ-प्रथम कूट का नाद अनाहत तक जाता है। अनाहत से उदितनाद, ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त जाता है। व्यष्टि और समष्टि के भेद से चार बीजों के रूप में नाद की स्थिति है। इनकी जब नाद के साथ एकता हो जाती है तो उस भावना को मन्त्रविषुव कहते हैं।

टीका-प्रथम कूट का नाद जिसमें चारों बीजों की एकता है, उसकी आधारोत्थित नाद से ऐक्यता नहीं होती है। अर्थात् प्राथमिक नाद अनाहत से उदित नाद के साथ एक नहीं होता है।

आधार से उदित नाद बुद्धियात्म रूप में लीन हो जाता है। उसके संयोग और वियोग से मन्त्रवर्णों के साथ समष्टि और व्यष्टि होती है। अस्तु, इसमें अनाहत से आरम्भ करके ब्रह्मरन्ध्र तक नाद रूप से आत्मा का चिन्तन करना चाहिए। यही मन्त्र-विषुव है।

यह कादि मत का वचन है कि नाद के संयोग से समष्टि तथा नाद के वियोग से वर्णो के रूप में व्यष्टि होती है। इसमें चारों बीजवर्ण शेष हो जाते हैं। आधार से लेकर अंत (ब्रह्मरन्ध्र) तक इसका विचार है। 'आधारान्तान्तम्' से तन्त्र मे 'अन्त' पद से दो ब्रह्म की सत्ताओं का ब्रह्मरन्ध्र तक वर्णन किया गया है। अस्तु, 'आधारान्तादि' से सारे अर्थ ठीक हो जाते हैं।

संगति- अब नाडी-विषुव का वर्णन करते है।

अन्धारोत्थितनादस्योच्चाराद् ब्रह्मारन्ध्रन्तम् ॥४५॥
षटचक्राणां ग्रन्थीन् द्वादश भिन्दन सुषुम्णयैव पथा
नाडोनादार्णनां संयोगो नाडिकाविषुवम् ॥४६॥

भावार्थ- आधार से उदित नाद का उच्चारण ब्रह्मरन्ध्र तक होता है। सुषुम्ना मार्ग में छः चक्र और बारह ग्रन्थियों का भेदन होता है। नाडी और नाद के वर्णो का संयोग ही नाडी-विषुव है।

टीका- मूलाधार से ऊपर जाने पर छ: चक्र और बारह ग्रन्थियाँ हैं, जो प्रत्येक चक्र के ऊपर और नीचे मिलती हैं। सुषुम्ना नाडी के द्वारा इनका भेद करके नाद मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त जाता है। इस मार्ग में नाद का वर्ण समूह के सहित नाडी से संयोग होता है, उसकी उच्चारण की भावना को ही नाडी-विषुव कहते हैं। अर्थात् नाडी, नाद और वर्ण का संयोग ही नाडी-विषुव कहलाता है।

संगति– अब प्रशान्त-विषुव कहते हैं।

रेफे कामकलार्णे हार्दकलायां च बिन्द्वादौ।
नादान्तावधि नादः सूक्ष्मतरो जायते तत्र ॥४७॥
शक्तेर्मध्ये तल्लयचिण्तनमुदितं प्रशान्तविषुवाख्यम।

भावार्थ– तृतीय कूट की हृल्लेखा के रेफ से जो कामकला, हार्धकला और बिन्दुओं से नादान्त तक नाद जाता है, वह सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता जाता है। तथा शक्ति में उसका लय हो जाता है। नाद के उदय और लय का चिन्तन ही प्रशान्त-विषुव कहलाता है।

टीका– तीसरे कूट के रेफ से नाद उदित होकर सात स्थानों में होता हुआ धारा-प्रवाह से जाता है, वह सूक्ष्म से सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम् होता जाता है। जैसे कि एक काँसे की थाली में ताल-ध्वनि की जाए तो आघात के पश्चात् वह उत्तरोत्तर सूक्ष्म होती जाती है। शक्ति में जाकर नाद लय हो जाता है। ऐसी भावना को प्रशान्त-विषुव कहते हैं।

संगति – अब शक्ति-विषुव कहते

शक्त्यन्तर्गतनाद समनायां भावयेल्लीनम् ॥४८॥

भावार्थ– शक्ति स्थान से पुनः उदित हुआ नाद जब सूक्ष्मतम होता हुआ व्यापिका को लांघकर समना में लय होता है तब उस भावना को शक्ति विषुव कहते हैं।

टीका– शक्ति स्थान से नाद पुनः जीवित होकर सूक्ष्मतम होता हुआ ऊर्ध्व में व्यापिका को पार करके समना में लय होता है। इस भावना को ही शक्ति-विषुव कहते हैं।

संगति– समना से ऊपर जब नाद पुनः जीवित होकर अत्यन्त सूक्ष्मतम होकर उन्मना में लय होता है तो उसे ही काल-विषुव कहेंगे इसका वर्णन करते हैं–

समनागतमुन्मन्यामेते द्वे शक्तिकालविषुवाख्ये।

भावार्थ– जो नाद समना में लय होकर पुनः समना से ही उदित होकर उन्मना में लय होता है, उसे ही काल-विषुव कहते हैं।

संगति– अब तत्व-विषुव का वर्णन करते हैं।

श्रीविद्याकूटावयवेषु ककारादिषून्मनान्तेषु ॥४९॥
अकुलादिकोन्मनान्तप्रदेशसंस्थेषु सकलेषु ।
अध्युष्टनिमेषोत्तरसप्तदशाधिक शतत्रयत्रुटिभिः ॥५०॥
उच्चरिते नादे सति तस्यान्ते तत्त्ववेदनं भवति ।
तदिदं चैतन्याभिव्यक्तिनिदानं तु तत्त्वविषुवाख्यम् ॥५१॥

भावार्थ– श्री विद्या के अवयव रूप तीनों कूटों के सभी वर्ण ककारादि से लेकर उन्मना पर्यन्त अकुलादि चक्रों में तथा उन्मनादि प्रदेश में स्थित है । साढे तीन निमेषोत्तर ३१७ त्रुटि पर्यन्त नाद का उच्चारण हो जाता है, इसके पश्चात् तत्व का ज्ञान होता है । जब इसप्रकार चैतन्य की अभिव्यक्ति हो जाती है तो उसे तत्व-विषुव कहते हैं ।

टीका– उपरोक्त कथन में बत्तीस चक्रों का वर्णन है । जिनमें दो चक्र अकुल हैं– प्रथम मूलाधार के नीचे तथा द्वितीय सहस्रार के ऊपर हैं । शेष तीस चक्र 'कुल' चक्र हैं । इनमें यद्यपि मूलाधारस्थ कुल पद्म से देव-विद्या के अक्षरों का आरम्भ होता है, तथापि चक्रराज की सम्पूर्ण भावना का आरम्भ नीचे के सहस्रदल से होता है । इसी बात को 'अकुले विषुसंज्ञेच' आदि वचनों द्वारा चतुःशती में कहा गया है । श्रीविद्या में कुल और अकुल का भेद उसी तंत्र से प्रारम्भ किया गया है । अध्युष्ट ही सार्धत्रवलय को कहते हैं । आँख की पलक गिरने के काल को निमेष कहते हैं । एक निमेष का तीन सहस्रवां भाग त्रुटि कहलाता है । बैठे हुए स्वस्थ मनुष्य की आँख का जो स्पन्दन होता है उसका तीसवॉं भाग तत्पर कहलाता है । ऐसा एक वचन है । तथा तत्पर का एक शतांश त्रुटि कहलाता है । साढ़े तीन निमेष तथा ३१७ त्रुटि अर्थात् १०८१७ त्रुटि पर्यंत जब श्रीविद्या के अवयव रूप वर्णों के स्थान सहित नादोच्चारण होने पर स्वसंविद रूप अभेद बोध रूपी तत्व का ज्ञान हो जाता है, तब इस उच्चारण को तत्व-बिषुव कहते हैं ॥

संगती– अब उपसंहार पूर्वक जप का लक्षण कहते है–

एवमवस्थाशून्यविषुवन्ति चक्राणि पञ्च षट् सप्त
नव च मनोरर्धाश्च स्मरतो ऽर्णोच्चरणं तु जपः ॥५२॥

भावार्थ– इस प्रकार पञ्च अवस्था, षट्-शून्य, सप्त-विषुव और नव चक्रों के साथ मन्त्र के अर्थ का स्मरण करते हुए वर्णों का उच्चारण करते हुए जप होना चाहिए।

टीका– अवस्था (पांच), शून्य (छः), विषुव (सात) एवं चक्र (नौ) इन चारों का क्रम से अन्वय कर लेना चाहिए। तथा तीनों नादों की तीनों चक्रों के साथ भावना करनी चाहिए। चक्र संकेत में चक्र की भावना सकल, निष्कल और सकल-निष्कल इन तीन प्रकार की बताई गई है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्धि, ललना, आज्ञा, बिन्दु एवं अकुल सहस्रार इन नव चक्रों के स्थानों मे त्रैलोक्यमोहन आदि नव चक्रों की भावना सकल है। तथा बिन्दु से उन्मना पर्यन्त चक्र स्थानों में त्रैलोक्यमोहन आदि नव चक्रों की भावना निष्कल भावना कहलाती है और महाबिन्दु स्थान में त्रैलोक्यमोहन आदि नव चक्रों की भावना सकल-निष्कल कहलाती है। मन में मन्त्र के अर्थानु-संधान सहित ही विद्या का स्वरूप है। अस्तु, उसमें विद्या के ५८ वर्णों की स्थिति जानकर, आद्यकूट तथा बिन्द्वादि नवक छोडकर शेष जो ४० वर्ण है, उनके उच्चारण की ही जप संज्ञा है। इसी को जप पद से वाच्य कहा है।

भास्कररायेण गुरोः करुणावशत समुन्मिषिते।
वरिवस्यातिरहस्ये पूर्वांशः पूर्णतामगमत ॥५३॥

भावार्थ– इस प्रकार वरिवस्यारहस्य ग्रन्थ का पूर्वांश प्रथम भाग भास्करराय के द्वारा उनके गुरु की करुणा से पूर्ण हुआ।

द्वितीयोंऽशः

संगति– जप शरीर का घटक है–

यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ॥

अर्थात्– शब्द के अर्थज्ञान के बिना जप नहीं करना चाहिए। बिना अर्थज्ञान के जप करना भस्म में हवि प्रदान करने के समान है। इसप्रकार ज्ञानरहित मन्त्रोच्चारण की निन्दा की गई है। इसप्रकार के जप से पाप लगता है।

नार्थज्ञानविहीनं शब्दस्योच्चारणं फलति।
भस्मनि वन्हिविहीने न प्रक्षिप्तं हविर्ज्वलति ॥५४॥

अर्थमजानानां नानाविधशब्दमात्रपाठवताम् ।
उपमेयश्चक्रीवान् मलयजभारस्य वोढेव ॥५५॥

भावार्थ– अर्थज्ञान-हीन शब्दोच्चारण अग्निविहीन भस्म में हवि डालने के समान व्यर्थ होता है । बिना अर्थजाने नानाविध शब्द मात्र पठन का काम ऐसा है जैसे गधे पर चन्दन की लकडी का बोझ ढ़ोना होता है । शब्दों के अर्थहीन उच्चारण की उपमा एक चन्दन के बोझ से दी गई है ।

टीका– जिस प्रकार चन्दन ढ़ोने वाले गधे को चन्दन के गुण का कोई लाभ नहीं होता, उसी प्रकार मन्त्र का अर्थ न जानने वाले व्यक्ति को मन्त्रजप का लाभ नहीं होता । उपमा गुणाधिक्य बताने के लिए दी जाती है, परन्तु इन श्रुतिवचनों में यह उपमा उसकी न्यूनता बताने के लिए विपरीत अलंकार रूप में दी गई है ।

पुरुषार्थानिच्छद्भिः पुरुषैरर्थाः परिज्ञेयाः ।
अर्थानादरभाजां नैवार्थः प्रत्युतानर्थः ॥५६॥

भावार्थ– जो लोग पुरुषार्थ अर्जित करना चाहते हैं, उन्हें मन्त्र का अर्थज्ञान जानना चाहिए । जो अर्थज्ञान का अनादर करते है, उन्हें पुरुषार्थ की प्राप्ति नहीं होती अपितु अनर्थ उपलब्ध होता है । इसप्रकार अर्थज्ञान के सम्बन्ध में कहा गया है ।

संगति– इसका अर्थ तन्त्र और उपनिषदों में नाना प्रकार से शिवजी के द्वारा कहा गया है, उन्हें संग्रह करने के उद्देश्य से हम निम्न प्रकार से कहते हैं –

अथातः पूर्णगायत्र्याः प्रतिपाद्योऽर्थ आदिमः ।
भावार्थः संप्रदायार्थो निगर्भार्थस्तुरीयकः ॥५७॥
कौलिकार्थो रहस्यार्थो महातत्त्वार्थ एव च ।
नामार्थः शब्दरूपार्थश्चार्थो नामैकदेशगः ॥५८॥
शाक्तार्थः सामरस्यार्थः समस्तसगुणार्थकौ ।
महावाक्यार्थ इत्यर्थाः पञ्चदश्याः स्वसंमिताः ॥५९॥

भावार्थ– अस्तु अब सर्वप्रथम पूर्णगायत्री प्रतिपाद्य अर्थ को जानना चाहिए । दूसरा भावार्थ, तीसरा सम्प्रदायार्थ, चोथा निगर्भार्थ

पाचवां कौलिकार्थ, छठा रहस्यार्थ, सातवां महातत्त्वार्थ, आठवां नामार्थ, नवां शब्दरूपार्थ, दसवां नाम के एक देश का अर्थ, ग्यारहवां शाक्तार्थ, बारहवां सामरस्यार्थ, तेरहवां समस्तार्थ, चौदहवां सगुणार्थ, पन्द्रहवां महावाक्यार्थ । इस प्रकार इस मन्त्र के पन्द्रह अर्थ हैं । इन स्वसम्मत अर्थों को जानना चाहिए ।

टीका– उक्त कथन के अनुसार अर्थज्ञान अत्यन्त आवश्यक हैं । पूर्ण गायत्री से मन्तव्य चतुर्थचरण सहित गायत्री से है । वर्ण अपने आत्मा के ही रूप है । मन्त्र के वर्ण की संख्या के समसंख्यक ही मन्त्र के अर्थ हैं । पञ्चदशी का विचार सम्प्रदायार्थ के प्रकरण में कादि विद्या के संतीस वर्णों का विवरण करेंगे । अतः उन अर्थों को भी सम्मिलित कर लेना चाहिए ।

संगति– त्रिपुरोपनिषद प्रतिपादित गायत्री अर्थ कहते हैं–

कामयते स ककारः कामो ब्रह्मैव तत्पदस्यार्थः ।
सवितुर्वरेण्यमिति वै सवितुः द्वितीयवर्णार्थः ॥६०॥
सर्वान्तर्यामि दधंद्भर्गो देवस्य धीति तुर्यार्थः ।
पृथ्वी मही लकारन्तृतीयतुर्याङ्घ्रिबोधिका माया ॥६१॥

भावार्थ– जिसने कामना की वह काम ही ब्रह्म का स्वरूप 'तत्' पद का अर्थ है, वही 'ककार' है वह सविता ही सबसे श्रेष्ठ है जो द्वितीय वर्ण एकार का अर्थ है । वह परम तेज या 'भर्ग' रूप देव सर्वान्तिर्यामी ही मन्त्र के तीसरे वर्ण 'ईकार' का अर्थ है । लकार पृथ्वी रूप है तथा माया अर्थात हृल्लेखा गायत्री के चतुर्थ पद का बोधक है ।

टीका– गीता स्मृति के "ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रि-विधः स्मृतः" वचन के अनुसार 'तत्' पद शाश्वत ब्रह्म का वाचक है । श्रुति के अनुसार भी 'तत्' पद ब्रह्म का ही बोधक है । जैसा कि श्रुति वचन है 'कं ब्रह्म' उसने कामना की इसका भी वह बोधक है । उस अकाम ने ही कामना की । वही निरञ्जन है जिसमें कोई कामना नहीं है, वही उदय होता है । काम से ही प्रयोजन वाला होने के कारण उसे 'काम' शब्द से कहा है । वही ककार में व्याप्त है, ऐसा श्रुति वचन है । वही कामेश्वर रूप में पर्यवसान को प्राप्त हुआ

अर्थात् कामेश्वर कहलाया। उसीने प्रेरक भाव धारण किया। 'पुरा वत्सानामपाकर्तो:' आदि कल्पसूत्र प्रयोग के अनुसार वही प्राणियों के प्रसव का मूल है, योनि रूप है। वही विशेष श्रेष्ठ भजनीय है। वही दो पदों के द्वारा जगत योनित्व को प्राप्त हुआ, इसलिए उसे कामेश्वरी कहते हैं। अत: वह एक रस भाव ही त्रिकोणाकार अर्थात् 'एकार' रूप हुआ। श्रुति वचन भी है कि उस सविता ने ही प्राणियों के प्रसव को धारण किया। इस उपक्रम के अनुसार त्रिकोण ही शक्ति का आकार है। उसीने महाभग रूप से जगत प्रसव रूप धारण किया है। अस्तु वह एकार रूप उसीने ग्रहण किया है। जैसा कहा है –

उस एकादश आधार (ग्यारहवां वर्ण) यानी 'ऐँ' में ही, जो त्रिकोणाकार बीज है उसीने इस ब्रह्माण्ड रूप कडाही में इस जगत दृश्य को धारण किया है। यह वामकेश्वर तंत्र में स्पष्ट ही दिखलाया गया है। 'सर्व इति' से सर्वान्तर्यामी देव का अर्थ है। धारण करने के कारण ही उसे 'धी' शब्द से यानी धारक जगदाधार धारण करने के कारण कहा है। श्रुति का कथन है कि इसीका स्पष्ट अर्थ 'भर्ग' है। सर्वान्तर्यामी सर्वाधार शिव जिसे कहा है। यही ईकार के अर्थ का भाव है। 'भर्गो देवस्य' पद में उसी आद्य तत्व का उपक्रम हुआ है जो तुरीय पद ईकार रूप है। वही सर्वान्तर भूत भाव है। इसी ईकार को मध्य में स्थित हुआ पद कहा गया है। इसलिए यह भर्ग-देव ही 'धी' रूप वाला ईकार है, ऐसा श्रुति वचन है। यह मातृका क्रम में चौथा वर्ण है जबकि मन्त्र में इसकी स्थिति तीसरे वर्ण की है। 'मही' शब्द पृथ्वी का द्योतक है एवं इसका महत्व इसके ठोस होने के कारण है। यहाँ मही शब्द के अन्तर्गत पाँचों महाभूतों को उपलक्षण से समझना चाहिए। जैसे एक मिट्टी ही विभक्त होकर घट रूप धारण करती है और अनेक घटाकार भाव बन जाते हैं। इसलिए वही सब रूपों में विराजमान है। उसी का परिणाम यह सारा जगत है। यही यहाँ मन्त्र में पृथ्वी के बीज 'लकार' का भी अर्थ है। अस्तु, पृथ्वी ही इन सारे रूपों में सागर, पर्वत आदि रूपों में सारे विश्व में प्रतिपादित है। इस प्रकार सारे भूमण्डल का वाचक यह लकार है जैसा श्रुति वचन है। यही

गायत्री का तीसरा पाद जो 'धियो योन: प्रचोदयात्' है। इसमें जो आदि में 'धियो' यानी हमारे ध्यान से रहित है। यही तत्व हमें विषयों में प्रेरित करता है। एवं पर तत्व के ज्ञान का जनक ह। गायत्री का चौथा पाद– 'परोरजसे सावदोम' कहा गया है। यह रजोगुण से परे भाव है यानी रज से अतीत ही निर्मल, निर्गुण इसका तात्पर्य है। यहाँ यह 'रज' शब्द धूल का वाचक है। इसलिए पृथ्वीरूपा होने से इसे तीनों गुणों (सत्, रज, तम) का उपलक्षण समझना चाहिए। अर्थात् उसे त्रिगुणातीत ही समझना चाहिए। परतत्व इससे अभिन्न होते हुए भी 'कार्य' नहीं है। अस्तु यह कथन में न आने वाला 'ब्रह्म' भाव 'परोरजास्ते पञ्चम पाद:' अर्थात् रज से परे होने के कारण पञ्चम पाद, तुरियातीत भाव में इसे समझना चाहिए। जैसा कि प्रयुक्त हुआ है कि– वह 'सावदो' अर्थात् कथन के बाहर है। यही प्रणव स्वरूप है अर्थात् कहा नहीं जा सकता है। शब्द की शक्ति की सीमा से जाना नहीं जा सकता, यह केवल शक्यता अवच्छेदक धर्म मात्र है। जो पर तत्व रूप में केवल लक्षणा वृत्ति से ही बोध्य है। यह केवल 'सत्य ज्ञानादि' पद से कहा जाने वाला विशिष्ट तादात्म सम्बन्धशाली भाव है, जैसा कि श्रुति वचन है– 'यतो वाचो निवर्तन्त'। अथवा गीतानुसार 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य:'। यह केवल लक्ष्यार्थ रूप होने से लक्षणा से ही ज्ञातव्य है– जैसा कि उक्त स्मृति वचन है। प्रणवार्थ में जो परतत्त्व है वही अकार, उकार, मकार रूप से ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रात्मक है। अस्तु, यह सारा अर्थ हृल्लेखा में ही घटित होता है। 'हृ' का अर्थ हृदय ही है, यानी जो ईकार रूप में अर्थवान है। अस्तु, इसे हृदय में रहने वाली हृल्लेखा समझनी चाहिए, जैसा कि श्रुति वचन है– 'हृदयागार वासिनी हृल्लेखा' इस प्रकार का अर्थ गायत्री का प्रथम कूट के साथ सम्पन्न हुआ कि सारे जगत की सृष्टि करने की इच्छा रूप कामना वाला ही वह कामेश्वर है तथा जगतकारण रूपा कामेश्वरी है। शिव ही सबका अन्तर्यामी सर्वाधार है वही पञ्चभूतों के आत्मरूप में परिणत होकर स्थित है। पर वस्तु मात्र विषयक यह निर्विकल्प ज्ञान का जनक निरञ्जन निर्गुण रूप है जो लक्षणावृत्ति से ही जाना जाता है। तथा शक्तिरूप में गम्य ही ब्रह्मा, विष्णु और रूद्र का स्वरूप है जो परतत्व के ही भाव हैं।

संगति– अब दूसरे और तीसरे कूट का अर्थ समझाते हैं–

त्रिपदी त्रिवर्णबोध्या तुर्यस्तदुपरिषडक्षरीगमकः ।
अथ तार्तीये वर्णद्वितयं त्रिपदीषडक्षरीगमकम् ॥६२॥
कूटद्वितये शेषं पूर्ववदुन्नेयमिति तु विद्यायाः ।
गायत्र्यर्थस्त्रिपुरोपनिषदि कथितस्तथैव भागवते ॥६३॥

भावार्थ– दूसरे कूट के प्रथम तीन वर्ण 'ह, स, क' हैं यही गायत्री के 'तत् सवितुर्वरेण्यं' तीन पदों के बताने वाले हैं। मन्त्र का चौथा वर्ण 'हकार' गायत्री के छः अक्षरों का अर्थ बताता है। इसी प्रकार तीसरे कूट के प्रथम दो वर्ण–'स, क' उक्त तीन शब्दों को और छः अक्षरों को बताते हैं। मन्त्र के दोनों कूटों के शेष अक्षरों का भाव पूर्व कथन के अनुसार ही लगा लेना चाहिए। इस प्रकार गायत्री और श्रीविद्या का साम्य श्रीत्रिपुरोपनिषद् और देवी भागवत के द्वारा (ही ठीक बैठाया गया है) सिद्ध है।

टीका– त्रिपदा गायत्री के तीनों पाद श्रीविद्या के द्वितीय कूट में स्थित प्रथम तीन वर्णों से ही बोधित है, क्योंकि ये तीन वर्ण ही उसके प्रतीक है। यही तीनों गुणों के वाच्य है। एवं नव रसों के रुचिर रूप हैं। यही इसका सार है।

'तत्' पद ब्रह्म का वाचक है, जिसका वाची शिव का हकार है। अर्थात् हकार ही तत् पद का अर्थ है। जैसा कहा गया है– 'तदित परमात्मा' यानी उसी का वाचक यह हकार अक्षर शिव रूप है। अस्तु जैसा श्रुति में कहा है– 'शक्ति दर्शयति' अर्थात् इसके अन्तर्गत ही वृत्ति रूपा 'तत्' पद की 'शक्ति' संयुक्त होकर दर्शित है। 'सकार' का अर्थ सविता है। ककार का 'वरेण्यं' अर्थ है। यह चौथा 'हकार' अक्षर पहले तीन के ऊपर विद्यमान होकर छः अक्षरों 'भर्गो देवस्यधी' के अर्थ का बोधक है। तीसरे कूट के द्वितीय वर्ण से भी यही संकेत मिलता है। अस्तु दोनों रीतियों से 'धी' शब्द से अन्तवाली गायत्री का अर्थ प्रतिपादित किया गया है। दोनों स्थानों में यानी लकार और हृल्लेखा को पञ्चभूतादि रूप में आत्मा के अर्थ रूप से ही लिया गया है। यही द्वितीय कूट का विचार है तथा गायत्री के स्थिर वृत्त चौथे चरण की प्रतिपादक ही श्रीविद्या के तीनों कूट हैं। जैसा कि

देवी भागवत से सिद्ध है। इस पुराण में आदि के दो श्लोकों से इसकी पुष्टि होती है।

अस्तु, इस प्रकार इस आद्या श्रीविद्या की ब्रह्मरूपता गायत्री से प्रतिपादित करके स्पष्ट दर्शाया गया है।

वस्तुत: यह हयग्रीव की ब्रह्म विद्या है जो यहाँ तीन वृत्तों के रूप में विद्यमान है। गायत्री से आरम्भ देवीभागवत से इसे जाना गया है। अस्तु लक्षणा वृत्ति से बोध्य भगवत् पद की वाचक यह गायत्री है तथा पुनः 'जन्माद्यस्य यत:' ब्रह्म सूत्र से भी यही प्रतिपादित है।

संगति– अब योगिनी-हृदय में कहे हुए भावार्थ का वर्णन करते है।

वामेच्छे ब्रह्मभारत्यौ ज्येष्ठाज्ञाने हरिक्षिती।
रौद्रीक्रिये शिवापर्णे इत्येतन्मिथुनत्रयम् ॥६४॥
त्रिभिः कूटैः क्रमाद्वाच्यमीकारत्रितयेन तु।
एतत्त्रयसमष्टयात्म वाच्यं शान्ताम्बिकात्मकम् ॥६५॥

भावार्थ– वामा और इच्छा, ज्येष्ठा और ज्ञान तथा रौद्री और क्रिया यह तीन युग्म है। एवं ब्रह्मा और भारती, हरी और क्षिति या पृथ्वी तथा शिव और अपर्णा (पार्वती) ये तीन युग्म है। तीनों कूटों के साथ क्रम से उक्त तीनों युग्मों की स्थिति है। इन तीनों की समष्टि की वाचक ही शान्ता और अम्बिका है।

टीका– प्रकाश के अंश में समाहित वामा, ज्येष्ठा रौद्री रूप तीन शक्तियाँ ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र रूप तीन पुरुषों के साथ मिथुन भाव से विद्यमान है। इनकी समष्टि ही शान्ता शक्ति तुरीय रूप है। तथा विमर्शांश से उद्भूत इच्छा, ज्ञान और क्रिया ही भारती, पृथ्वी और रौद्री रूप में भार्या रूप से ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र के साथ युक्त है। अर्थात् प्रकाश के शक्ति अंश से उद्भूत वामा, ज्येष्ठा और रौद्री रूप शक्तियाँ ही ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र रूप है तथा इनके साथ विमर्शांश से उत्पन्न ईच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप शक्तियाँ-भारती, पृथ्वी और रौद्री ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र के साथ भार्या रूप में स्थित है। इन तीनों की समष्टि ही अम्बिका रूप शक्ति है जो तुरीय पद

वाच्य है। अतः प्रथम मिथुन त्रय का अर्थ ईकार विनिर्मुक्त कूट त्रय है। ईकार ही तुरीय मिथुन रूप है। आगे शाक्तार्थ में इसका वर्णन होगा कि एक-एक कूट में रेफान्त वर्ण षट्क मिथुन त्रय में अभेद रूप से कैसे स्थित है। इसको योगिनी हृदय म कहा है–

अक्षरों का अर्थ ही भावार्थ रूप से केवल परमेश्वरी रूप में ही योगिनी रूप है जो समस्त साधक और उनके स्वामी ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र में स्थित है। इस प्रकार यह मन्त्रराज शिवशक्ति के समस्त योगों का जनक है। ऐसा ही अमृतानन्दजी ने कहा है कि भारती आदि योगिनी एवं ब्रह्मादि वीरेन्द्र के वाच्य है। यही समष्टि रूप से शिवशक्ति मिथुन वाच्यभूत है। और यही मन्त्रराज से उपलक्षित वीर जनित भाव है। वस्तुतः सकलादि नामक जो तीन प्रकार के उपासक है वही यहाँ वीर पद से कहे गए है।

जब साधक अहं के प्रतियोगी 'इदं' को अपने अन्दर लय कर लेता है तो वही अपने पराक्रम से प्राप्त अपने आत्मतत्व का भोक्ता हुआ अशिव भाव का निराकरण कर देता है।

इस प्रकार परापञ्चाशिका स्तोत्र में वीर पद से साधक को ही परतत्व की प्राप्ति का निर्वचन किया गया है। अतएव यहां ब्रह्मादि पद उपासना की श्रेष्ठता के कारण वीरेन्द्र पद से वाच्य है। इस प्रकार भारती आदि तीनों योगनियाँ, तीनों प्रकार के साधक एवं ब्रह्मादि वीर हृल्लेखा से मुक्त तीनों कूटों में क्रम से प्रतिपाद्य है। हृल्लेखा ही शिवशक्ति सामरस्य रूप से चौथा मिथुन है। ऐसा वचन भी है कि ह्रींकार उभयात्मक है, अर्थात् ह्रींकार युक्त मन्त्र उक्त तीनों मिथुनों का वाच्य है। और ह्रींकार ही तुरीय मिथुन शिव शक्ति सामरस्य का वाच्य है। यह इस सबका सार है कि प्रकाश के अंश से उद्भूत वामा, ज्येष्ठा और रौद्री शक्तियाँ ही ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र रूप में पुरुष भाव से तथा विमर्शांश से उद्भूत ईच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप शक्तियाँ भारती, पृथ्वी और रौद्री रूप स्त्री भाव से उनमें स्थित हैं। श्रीविद्या के तीन कूटों के साथ क्रम से इन तीनों की एकता समझनी चाहिए। ह्रींकार का अलग शिव शक्ति सामरस्य तुरीय रूप जानकर उक्त तीनों के तुरीय शान्ता और अम्बिका को ही ईकार रूप से ऐक्य समझना चाहिए।

संगति– अब इसी अर्थ को विस्तार से कहते हैं –

यद्वा गोः सकलब्रह्मप्रभृतीनां त्रयं त्रयम् ।
त्रिकूटवाच्यं माययास्तुरीयं मिथनं मतम् ॥६६॥

भावार्थ– भारती सकल एवं ब्रह्मा आदि से आरम्भ होने वाले तीनों त्रिक माया (ह्रीँ) रहित तीन कूटों के बोधक हैं । माया (ह्रींकार) का चौथा मिथुन शिव शक्ति का बोधक है ।

टीका– 'वीर' पद योगनियों का विशेषण है, इसलिए वीरपद से योगनियों को समझना चाहिए । अस्तु, ब्रह्मादि वीरपति वाचक ही वीरेन्द्र पद से कहे हैं । वीरेन्द्र पद को योगनियों से युक्त करके शास्त्रार्थ में कहा जाएगा । इसे छः अक्षरों द्वारा ब्रह्मा, भारती आदि से वाचक करके समझाया गया है । शिव शक्ति के सामरस्य को ईकार द्वारा समझ लेना चाहिए । इसलिए इसे दोनों को युक्त पद से कहा है । अतः सात अक्षरों से ही मन्त्रराज का उद्भव है । (क ए ई ल ह स ह्रीं ।) इन सात अक्षरों का परिणाम ही मन्त्रराज हं इसका ही प्रसार परमार्थन्याय से सिद्ध है । इस मन्त्र की उत्पत्ति से उसका अनादित्व भङ्ग नहीं होता है । निर्विशेष ब्रह्म में जन्यत्व नहीं है, परन्तु सगुण में जन्यत्व है । अनादि प्रवाह रूप से जन्यत्व अङ्गीकार हुआ है । इसलिये इसमें कोई अनुष्यन्नता नहीं है । अर्थात् प्रवाह मानने से जन्यत्व नित्त्य है । कार्य मात्र ही स्थूल, सूक्ष्म दोनों रूप स्वीकार कर लेने पर उक्त कारण से जन्यत्व नित्त्य हो जाता है । इसलिए सूक्ष्म रूप के अवस्थान में सत्कार्यवाद हमने स्वीकार किया है और उसके प्रतिपादक वचनों की संगति लगाई है । प्रथम पक्ष में उत्पादित पदार्थ की स्वरसत्ता की संगति नहीं बैठती हं । इसलिए आगे ग्रन्थ में भारती आदि सप्तक की समष्टि रूप से परदेवता के मन्त्र से अभिन्न प्रतिपादन है । मन्त्र के वाचक अक्षरों को समष्टि वाच्यार्थ समष्टि पर देवता से अभिन्न है । वाच्य और वाचक का हमने जो अभेद माना है वह इस प्रकरण में न्याय सिद्ध होकर ही माना है । यथा– वह परमानन्दरूपिणी स्पन्द स्वरूप मन्त्रराज के साथ अभेद रूप से स्वाभाविक सुन्दरी देवी स्वेच्छया जानकर उपासनीय है । वह शिवशक्त्यात्मक सामरस्य रूप

सनातन ब्रह्म है । वही प्रसर प्रथा से युक्त होकर समस्त ऐश्वर्ययुक्त उपलक्षित है। वही ज्ञाता में ज्ञान रूप होकर मन्त्र रूप से विराजती है। इसका समष्टि रूप ही पराशक्ति मातृका है। तन्मयी यानी मन्त्रराज से अभिन्न आनन्दमय यानी चिन्मय है। मय प्रत्यय यहाँ स्वरूपस्थ भाव को बताता है। जैसा कि अन्य स्थान पर कहा है कि वह तुरीय कूटस्थ के अर्थ में व्यवहृत है। अर्थात् चौथे मिथुन का वाच्य त्रिबीज समष्टि रूपिणी मन्त्र वाच्या ही अर्थरूपिणी है। यह 'मयत' प्रत्यय उसके स्वरूप का वाच्य है 'स्पन्दः' यानी छत्तीस तत्त्व रूप में जिसका परिणाम होता है और वह उन समस्त रूपों में उनसे अभिन्न होकर स्थित है। इसी प्रकार समस्त विश्व के देवताओं से अभिन्न होकर मन्त्र में अभेद होकर सूचित है। वह मूल प्रारम्भिक तत्त्व रूप है जो समस्त नामरूप प्रपञ्च की उत्पत्ति के अभिमुख हुआ है। वही समस्त शब्द व्यवहार में स्पन्दित होकर स्थित है। उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। नामरूप में उसीका व्यवहार होता है, जैसा कि सौंदर्यलहरी का कथन है कि जिसके बिना कोई स्पन्दन सम्भव ही नहीं है। 'न खलु कुशल स्पन्दितुमपि' अर्थात् वही अव्याकृत नाम-रूप जगतरूप स्पन्दित है। जैसा कि प्रायः तन्त्र में वर्णन आता है। यहाँ मन्त्र देवता का जगत के साथ अभेद सम्बन्ध बताया गया है। अर्थात् मन्त्र का जपकर्त्ता उसे जगत रूप से उपासना करते समय अपने में धारण करता है। इसमें पञ्चम लकार विधि के अर्थ में है। जैसे कोई मुख फाड़कर सोता है, तो इसमें सोना और मुख फाड़ना भिन्न-भिन्न नहीं समझना चाहिए, यानी जिसकी क्रिया ही ज्ञान स्वरूप है। जिस काल में करता है उसी काल में जानता है, अर्थात् उसका कर्त्तृत्व एवं ज्ञान अभिन्न ही है। इस प्रकार देवताओं को भी मन्त्र से अभिन्न ही प्रतिपादन करके मन्त्र के पदों में अवयव शक्ति को भी सम्मिलित करके बताते हैं। शिवशक्ति का यह संघट्ट रूप ही सामरस्य भाव से इस प्रकार 'तद्' रूप में कहा गया है। यह सनातन ब्रह्म ही नित्य स्थूल रूप में जगत रूप से प्रसारित होकर कहा जाता है। वही काक रूप से उपलक्षित समस्त जगत के ऐश्वर्य का स्वरूप है। यह जगत उसका विशेषण नहीं है अपितु स्वयं ही वह इस रूप में उपलक्षित होकर समस्त ऐश्वर्य का स्वरूप है।

अर्थात् इसे द्वैत का अत्यन्त निरास करके समझना चाहिए। अस्तु स्वयं साधक पुरुष ही ज्ञानमय स्वसंविद रूप से ब्रह्मभावापन्न निर्विकल्पज्ञानवत् शुद्ध ब्रह्म ही मन्त्रपदों की भावना से समन्वित है। 'तद्रूपिणी' की संगति 'एकं सद्विप्राबहुधावदन्ति' वचन से लगा लेनी चाहिए। 'तद्रूपिणी' देवी पद का विशेषण है जो विधि के अन्तर्गत है। यानी वह देवी जो उसके साथ तदाकार है। देवी में मन्त्र अनुगत है ऐसा मन्त्र पद से प्रतिपादन करके मन्त्र को 'तत्' पदार्थभूत पञ्चदशी से अभिन्न बताया है। जैसा कि पहले कहा गया है कि तादात्म्य भाव से वह उससे युक्त है। इसी को बताने के लिए उसका समर्थन 'तेषां इत्यादि' वचनों से किया गया है। इसीलिए 'तु' शब्द का अर्थ हेतु वाचक है जो भारती आदि के नाम से माता का समष्टि रूप उपलक्षण है। माता शब्द वाचक अक्षरों से जो उसके समष्टि रूप का ज्ञान होता है उसी से विद्या का भेद उपपादित किया है, यही इसका भाव है। अथवा मन्त्र पद के अवयवों से प्रवृत्ति का प्रतिपादन करके उसके पूरे समुदायरूप शक्तियों से समष्टि का प्रतिपादन किया है जो मन्त्रराज के पद में शक्तियों के अविच्छेदक सप्त समष्टि रूप हैं। यही पर देवता का स्वरूप है। यह समष्टि एक भाव प्रधान निर्देश है। यानी समष्टि रूप से जो शक्तियों से युक्त परदेवता है वही रूढ़ि के अनुसार ही मन्त्रराज के पद से बाच्य हुआ युक्त है। यानी उसी से उसका भेद भी प्रतिपादित हुआ है, यह भाव है।

संगति :– अब इसी अर्थ का निष्कर्ष श्लोकबद्ध निबन्ध से कहते हैं।

वामेच्छाद्याः षडोकार इति सप्तमिरक्षरैः।
त्रिरावृत्तैरियं विद्या संजाता तेन तन्मयी ॥६७॥
वामादिसप्तशक्तीनां समष्टिः पर देवता।
षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपास्माजमात्रयापि न भिद्यते ॥६८॥

भावार्थ :– वामादि षट् शक्तियों तथा ईकार त्रय सहित सात वर्णों से निर्मित त्रिकूटात्मक विद्या मन्त्र के साथ अभिन्न है। तथा वामादि सात शक्तियों को छत्तीस तत्त्व रूपी समष्टि भी उसी में

समाहित है। इसमें लेश मात्र भी भेद कल्पना नहीं है।

टीका–मन्त्र और अहंता रूप परदेवता में वाच्य वाचक का अभेद है, इनमें लेश मात्र भी भेद कल्पना नहीं है। मन्त्र का तीसरा वर्ण ईकार हृल्लेखा स्थानीय ज्येष्ठा शक्ति का वाचक है तथा वामादि षट् शक्तियों के मध्य इसकी गणना नहीं है। हृल्लेखा के तीन ईकार कामकला पद से समझना चाहिए तथा चौथे प्रथम ईकार को इन तीन के साथ नहीं लेना चाहिए। यानी इसे शाक्तार्थ में नहीं लेना चाहिए। उसमें वामादि षट्क कामकला के साथ अभिन्नता से है। अतएव वामादि कामकलान्त सप्तक से ही मन्त्र अभिन्न है और छत्तीस तत्त्वों से भी अभिन्न ही है। यह एक रहस्य है। शिवशक्ति का सामरस्य रूप समष्टि ही मन्त्रराज है तथा स्पन्द भी उसका ही व्यष्टि रूप शिवशक्तिमय है। अस्तु, जगत, मन्त्र और देवी के नाम को अभेद रूप से भावना करनी चाहिए, यही भावार्थ है। योगिनी हृदय में इसका निम्न प्रकार से उपसंहार किया है। उस स्थिर तत्व की चल्लता यानी स्फुरता ही धर्मी का धर्म है। स्थिरता अमृत का तथा चल्लता विष का वाच्य है। वह कथित विश्वरूपिणी शक्ति मन्त्र के अक्षरों की संयुक्त रूप से वाचक है। यही समष्टि रूप से पराशक्ति मातृका है। वह कूट त्रयात्मक देवी ही समष्टि और व्यष्टिरूपा है। अस्तु, आद्या शक्ति की इसी प्रकार भावना करनी चाहिए। यही भावार्थ है। पराहंता ही भावार्थ का स्वरूप है तथा कत्वतलादि वाच्य का धर्म ही शक्ति है, तथा शिव निधर्मक होने से अधर्म रूप है। शक्ति बहिर्भूत होने के कारण स्पन्द की जनक है। शिव को जो सक्षमता प्राप्त है वह शक्ति के ही कारण है; जैसा आचार्य भगवतपाद ने सौन्दर्य लहरी के प्रथम श्लोक में ही इसका वर्णन किया है कि भवचक्रात्मक स्पन्द का कारण शक्ति ही है। इसलिए जन्म, मरण आदि क्लेश-मय संसार की जनक यह शक्ति विष रूप है तथा इससे मुक्ति प्रदान करने वाला शिव अमृत रूप है। इन दोनों का वाच्य वाचक रूप हकार और अकार रूप अक्षर ही 'अहं' द्वारा कहा गया है। उसी में दोनों समाविष्ट होकर कामकलाक्षर रूप से चल्लता और स्थिरता रूप में यह नश्वरता युक्त जगत का रूप है। मन्त्रराज की प्रकृति सम्यक परिणाम और परिणामी भाव से युक्त है, इसलिए

विद्या को विश्वरूपिणी कहा है। अर्थात् वह विश्व के साथ एकाकार होकर अभेद रूप से उत्पन्न होती है। तथा शिवशक्ति सामरस्य रूप ही पराशक्ति जगदम्बा का पद वाच्य कार्य और कारण रूप से विश्व और विद्या का अभेद है। इसमें तीनों का अभेद सूचित किया गया है, अर्थात् शिव शक्ति और जगत तीनों ही अभिन्न रूप से नित्य ही विराजमान हैं। इसी पक्ष में योगिनी आदि को भी भावित कर लेना चाहिए यानी योगिनी रूप भी इन तीनों में ही अभिन्न रूप से विद्यमान है। भावार्थ स्वरूप शिव शक्ति सामरस्य दोनों का समायोग ही है, उसी में योगिनी आदि भी है। उनका समावेश जन्य कोटि में है, जनक कोटि में नहीं है। 'अहं' के दोनों अक्षरों से जन्य ही यह सारा अर्थ का दिशा विस्तार है। यह सृष्टि पर ब्रह्म का परिणाम है। यह सृष्टि दो प्रकार की है–अर्थमयी और शब्दमयी। चक्रमयी और देहमयी सृष्टि अर्थमयी और शब्दमयी के ही अन्तर्गत है। यह दोनों प्रकार की सृष्टि समान कालिक उदय और वृद्धिशालिनी है। जैसे बीज का अंकुर और उसकी छाया। अर्थात् जब छाया का दर्शन होता है तो उससे वृक्ष का अनुमान होता है, यह अनुभव सिद्ध है। छाया वृक्ष के समान ही है तथा छाया का वृक्ष से अविनाभाव सम्बन्ध है। दोनों की कल्पना साथ ही रहती है। इसी प्रकार यह प्रत्यक्ष शब्द का स्वरूप है यानी सारे शब्द का और सारे अर्थ का अविनाभाव सम्बन्ध है। अर्थ ज्ञान जनक ही ज्ञान का विषय होता है। इस प्रकार शब्द और अर्थ मिले हुए हैं। उसका अर्थ भी समानाकार है। अतः जहाँ–जहाँ तक शब्द की गति है वहाँ-वहाँ तक उसके समान उसके अवयव रूप में उसके अर्थ तथा उसके ज्ञान की गति है। जैसे 'चैत्रस्तण्डुलं पचति' वाक्य है, इसका प्रत्येक पद परस्पर व्यवहृत होने पर उसके परस्पर सम्बन्ध विशेष के अनुरूप उसका अर्थ होगा। मीमांसक मत है कि जो पदार्थ विशेष है उसकी जैसी भावना की गई है उसी के अनुरूप वाक्य का अर्थ होता है। किसी का मत है कि वाक्य से ही वृत्ति रूप में अर्थ होता है और तदनुसार उसका ज्ञान भी होता है। अस्तु, छः पदार्थ– शब्द समूह, कर्तृत्व, कर्मत्व, तेज, संयोग और कृति इनका ज्ञान ये सब परस्पर सम्बन्ध से एक दूसरे से लगे रहते हैं। यदि ऐसा न हो तो ज्ञान की परस्पर संगति नहीं लग सकेगी। अस्तु, अन्तःकरण का

परिणाम ही एक ज्ञान का स्वरूप है, वही परिणत होकर उस-उस प्रकार में कल्पित हो जाता है। अस्तु 'चैत्रस्तण्डुलं पचति' वाक्य का ज्ञान इसी विधि के अनुरूप होगा। अस्तु, सारे तांत्रिकों का एवं निराकार वादियों का भी यही व्यवहार है। अस्तु दोनों शब्द और अर्थ की सृष्टि का ज्ञान जनक यह मन ही है। जब वह शब्द को श्रोत्र इंद्रियों से ग्रहण करता है तथा स्वर्णादि अर्थ को चक्षुओं से प्रत्यक्ष करता है। इस प्रकार यह शब्द और अर्थमयी सृष्टि स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर तथा सूक्ष्मतम भेद से स्वाभाविक ही चार प्रकार की हो जाती है। श्रोत्र और मन में वह देव अर्थ रूप से चार विधाओं में आता है। स्थूल श्रोत्र से स्थूल शब्द सुना जाता है और स्थूल अर्थ का ज्ञान मन से होता है। सूक्ष्म श्रोत्र से सूक्ष्म शब्द सुना जाता है तथा सूक्ष्म मन से उसके ज्ञान का दर्शन होता है। शास्त्राभ्यास और योगाभ्यास आदि ही श्रोत्र और मन की सूक्ष्मपटुता के जनक हैं। योगशास्त्र निर्विचार वैशारदों का ही आध्यात्म प्रसाद है। जैसा कि 'ऋतं भरा तंत्र प्रज्ञा' सूत्र से स्पष्ट है। श्रुति वचन भी है—वाणी चार प्रकार की है जिसे मनीषी ब्राह्मण ही जानते हैं। तीन गुहा में छिपी रहती हैं तथा चौथी वैखरी वाणी वह है जो मानव बोलता है। इन चारों के नाम वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ति और परा हैं। यहाँ श्रुति ने तुरीय पद से वैखरी का अर्थ लिया है। यह सृष्टि क्रम के अभिप्राय से ऐसा कहा है। इस प्रकार शब्द के चार रूप होने से अर्थ भी इसी प्रकार चार प्रकार का जानना चाहिए। इसी प्रकार मष्तक आदि इंद्रियाँ तथा प्राण दशक वाला यह स्थूल जगत व्यक्त हुआ है जिसमें इनका विवाद बालकों जैसा विवाद है जो चलता ही रहता है। यहाँ विशेष बात यह है कि स्थूल के अवयव स्थूल होते हैं तथा सूक्ष्म के सूक्ष्म होते हैं। जैसे वैखरी वाच्य घट-पटादि होते हैं इसी प्रकार मध्यमा की अपेक्षा से उसके वाच्य घटपटादि जानना चाहिए। इनके पदार्थों को संकोच प्रसार के हिसाब से गौच या कछुआ के अवयवों के समान स्पष्ट और अस्पष्ट परिणाम भेद से न्यूनाधिक द्रव्यादि रूप में समझना चाहिए। जैसा कि मीमांसक आदि ने उनका व्यूहादि स्वीकार किया है। इसको चार वाचक शब्दों से चार वाच्य अर्थ भेद में समझना चाहिए। इसी प्रकार स्थूलादि ज्ञेयादि की कल्पना समझनी चाहिए। इन चारों सृष्टियों का मूलभूत रूप बिन्दु बीज

स्थानापन्न है। इसी प्रकार परतत्त्व का सूक्ष्मतम से भी सूक्ष्मतम विशिष्ट रूप ही वाच्य वाचक अभिन्न शब्दार्थ रूप ही शब्द ब्रह्म पद से निर्देश्य परब्रह्म का स्वरूप है। इसी के प्रकाश से अभिन्न उसका शब्दार्थ रूप है जिसे शब्द ब्रह्म आदि पद से निर्देश करके विशिष्ट रूप में 'अनिर्देश्यम्' 'अग्राह्यम्' 'अशब्दम्' 'अस्पर्शम्' आदि नकारात्मक विशेषणों से बताया है। वस्तुतः सृष्टि दो मूलभूत सूक्ष्म रूपों से अभिन्न शब्दार्थ रूप है, जिसे शब्द ब्रह्मादि पद से निर्देश करके 'परम ब्रह्म' कहा है। वह प्रकाश स्वरूप ही है। जो घट रूप से स्फुरित होता है, पट रूप से स्फुरित होता है, इत्यादि प्रत्यय रूप में ही पदार्थ मात्र की स्थिति उससे अभिन्न ही अनुभव सिद्ध है। प्रकाश का स्फुरणमय रूप ही वाच्य है जैसा कि 'प्रकाश स्फुरित होता है' इस प्रत्यय से ही उसकी प्रतीति है। उसका स्फुरण ही शक्ति का स्वरूप है। यानी जो प्रकाश के स्फुरण में ही समाहित है, वही जगत का कारण है। अन्यतर मात्र ही उसके जनकत्व की उपपत्ति लगा लेना चाहिए। जैसा कि 'कामकला विलास' ग्रन्थ में इसकी व्याख्या स्फुटतर रूप में की गई है। इसकी शुद्धि शिव की ही शुद्धि है। इसके शुद्ध होने से शिव भी शुद्ध होता है। वहां कहा है कि शक्ति ही जगत का कारण है, जिसे शिवशक्त्यात्मक रूप ही जानना चाहिए। उस प्रकाश की स्फुरता में अकार रूप शिव एवं हकार रूप शक्ति वाच्य वाचक अभिन्न ही हैं। उसमें उस प्रकाश रूप में पराशक्ति का रूप सूक्ष्मतम रूप से ही बताया है। वह पराशक्ति सृष्टि का मूलभूत भाव बीज स्थानीय बिन्दु विशेष का ही व्यक्ताव्यक्त से विलक्षण वाचक है। उसका जनक परब्रह्म ही है जो केवल अव्यक्त शून्य स्वरूप का वाचक है। उस शून्य स्वरूप देव को ही वाणी से अगोचर इत्यादि रूप में श्रुति में कहा गया है। इसलिए उस परावाणी के चतुष्पद रूपों के विचार से ही उसमें बहुवचन का प्रयोग है। स्मृति का भी कथन है कि अहं ही अद्वैत तत्त्व है जिसे प्रकाश रूप से कहा है। यह अकार ही सर्व वर्णों का आदि ही प्रकाश रूप परम शिव है और अन्तिम हकार ही कला रूप विमर्श रूप से कहा गया है। इन दोनों का सामरस्य रूप अहं स्वरूप है। अस्तु, गीता में भी 'अस्मि' पद से अकार को ही माना है। योगिनी हृदय में भी कहा है

कि वह शून्याकार विसर्ग ही बिन्दु रूप स्पन्दित होता है जो संविद का स्वरूप है। इसका तात्पर्य है कि जो सोलह स्वरों के विसर्गान्त बिन्दु विशेष हैं वह शून्याकार ही है। विसर्ग का अव्यक्त हकार ही अकार के समान सत्ता रूप से षोड्श स्वर रूप प्रकृति में ध्वनित होता है। इसलिए अकार और हकार दोनों को शून्याकार रूप में जानना चाहिए। अतः शून्य के अकार को कई लोगों ने विसर्ग के हकार रूप में कहा है। उनके मत से हकार का शून्यत्व दुर्घट है। अर्थात् 'अ:' अलग है और 'अहं' अलग है। इसे श्रुति के सृष्टिक्रम से समझा जा सकता है। जैसे कोई पुरुष अदृश्यवशात् पुत्र उत्पन्न करने की इच्छा से अपनी उत्पादन शक्ति को देखकर अपने शरीर के सम्बन्धि भार्या में स्वयं ही शुक्ल रूप से प्रवेश करता है जिसे उसकी भार्या एकादश भाव से धारण करती है। तब श्रुति के अनुसार वह उस पुरुष का आत्मरूप भाव पुत्र के नाम से कहा जाता है। इसमें वह स्वयं भिन्न होकर प्रविष्टमान होता है। वह अपने स्थूलतरत्व से आक्रान्त हुआ अपने अभेद भाव का भान नहीं कर पाता, क्योंकि वह स्वयं शुक्लरूप से अपनी ही शोणित बिन्दु रूप भार्या में प्रवेश करता है। तब वह संयुक्त बिन्दु फूलता है, जैसे वट या उदुम्बरादि का बीज फूलता है। इसके पश्चात् विशेष क्रम से उसकी उत्पत्ति कालान्तर में पुत्र रूप में होती है। जैसे सूर्य के सम्मुख दर्पण में सूर्य किरणों के रूप से प्रविष्ट होता है और भित्ति पर दर्पण में पड़ी हुई किरणों का संकलित रूप बिन्दु विशेष प्रादुर्भूत हो जाता है। तथा प्राणियों के अदृष्टवशात् अपने में ही संहृत विश्व की सृजन इच्छा से प्रकाशरूप ब्रह्म अपनी ही शक्ति को देखकर उसके अभिमुख होकर उसमें तेज रूप से शुक्ल बिन्दु रूप में प्रविष्ट होता है। उस बिन्दु में रक्तरूपा शक्ति प्रविष्ट हो जाती है। तब वह दोनों का मिश्र बिन्दु ही फूलता है। जिससे 'हार्द' कला रूप एक विशेष पदार्थ होता है, जो गुरुमुख से गम्य है यहां पुस्तक में नहीं लिखा जाता। अस्तु, वह बिन्दु समष्टि रूप में एक ही है जिसे शिव-शक्त्यात्मक सामरस्य के नाम से 'काम' रवि, अग्नि, सोमात्मक इत्यादि शब्दों से कहा जाता है। व्यष्टि रूप से वह अद्वैत ही है। उसी को शुक्लबिन्दु चन्द्रात्मक भाव में, जिसमें रक्तबिन्दु अग्नि भी

रहता है। इसलिए उसे दो बिन्दुओं वाला विसर्ग के नाम से व्यवहृत किया जाता है। अतएव रात्रि में सूर्य अग्नि में और अमावस्या को चन्द्र सूर्य में प्रविष्ट हो जाता है। अस्तु, इसी से श्रुति में 'रवि' को समष्टि बिन्दु कहना सिद्ध होता है। तथा 'काम' कहलाने वाला जो बिन्दु विसर्ग रूप हार्द कला है वह तीन अवयव वाला एक ही पदार्थ है –जो अणादि प्रत्याहार के समान कामकला कहलाता है। यही समस्त सृष्टि का बीज है। इसलिए इस अकार और हकार के मध्य ही सारे वर्ण या अक्षरों का पाठ आ गया है। ळकार लकार स्वरूप है तथा क्षकार क और ष के योग से बना वर्ण है। इसलिए इन दोनों का पाठ अकार और हकार के बाहर बोला जाता है। इसमें 'अहं' रूप ब्रह्म ही तुरीय बिन्दु कहा जाता है। उसके रूप वाला शून्य स्वरूप से उत्पन्न अकार हकार ही कामकला रूप व्यक्ताव्यक्त से विलक्षण यह 'अहं' पद वाच्य है। अकार हकार दोनों रूपों वाला तथा शिवशक्ति दोनों का रूप वाला यह 'अहं' पद रूप ही इसका निष्कर्ष है। इसलिए उसी से उत्पन्न सूक्ष्मादि से स्थूलान्त पर्यन्त सारी सृष्टि 'अहं' पद वाच्य है। जिस प्रकार 'उदुम्बर' पद में उसके समस्त भाव यानी बीज से उत्पन्न होने वाले परस्पर विलक्षण पत्र, काष्ठ, फूल, फल तथा कृमि आदि सभी उक्त उदुम्बर शब्द से ही व्यवहृत होते हैं, यानी उदुम्बर का बीज, उदुम्बर का पत्र इत्यादि। इसीप्रकार श्रृति में भी 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' 'तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति' (बृ. उ.) यानी ब्रह्म ही पहले था, उसने आत्मा रूप से अहं ब्रह्मास्मि रूप से अपने को जाना। 'त्वं' में भी 'अहं' ही 'त्वं' का रूप है, ऐसा ऐतरेय का वचन है। जिसे हम तुम कहते हैं वह स्वयं भी अपने को 'अहं' ही कहते हैं। अस्तु, अहं ही सबका नाम है, ऐसा तापनीय का कथन है। पाणिनीय व्याकरण में भी इसलिए इसे सर्वनाम की संज्ञा दी है। इसलिए यहां भी उसी ब्रह्म को ही अद्वय इत्यादि ब्रह्म स्वरूप कहकर उसकी उपासना 'पूर्णाहं' भाव से भावना रूप से कही गई है। अर्थात् विशेष रूप में स्पष्ट करके 'हंसः सोऽहं' इत्यादि विधि से कही गई है। इसका प्रकार तथा इसका रहस्य गुरु-चरण द्वारा ही उपलब्ध है। इसी बात को कादि मत में इस प्रकार से कहा है – 'जो योनि मुद्रा से बन्धन तथा मन्त्रों में वीर्य की

योजना करता है।' इसी लक्षण से गुरु को जानकर मानकर उसे समझना चाहिए।

यह आदि वर्ण अकार तथा अन्त वर्ण हकार है। इसी का समाहार ही यह 'अहं' है। बिन्दु के लाभ के कारण इसे द्वन्द इतर योग न मानकर द्वन्द का समाहार कहना चाहिए। छान्दोग्य में भी कहा है कि मैं ही नीचे, ऊपर, पश्चिम, दक्षिण, पूर्व, उत्तर सब जगह सब में व्याप्त हूँ। विरूपाक्ष पञ्चाशिका में भी कहा है कि यह आत्मा 'स्व' तथा 'पर' दोनों विश्व के दोनों रूपों के प्रकाशन में सक्षम है। 'अहम्' ही यह एक कथन है जिसमें यह समस्त स्थित भाव इस प्रकार दिखाई देता है। इस प्रकार के हजारों वचन हैं। अस्तु यह सारा पदार्थ जो देखने में आ रहा है इसका वाचक उत्तम पुरुष का अहं पद एकवचन ही है। वही परस्मै पद तथा आत्मनं पद भेद से दो प्रकार का हो जाता है तथा अकार रूप से अनुगत होकर शक्तता का अवच्छेदक होता है। एकार्थ उचित शब्द का अनेकार्थ बतलाना भी अन्याय है यहीं न्याय संगत बात है। इसलिए धातु रूप में उत्तम पुरुष से उस उत्तर भाव की स्थिति है जो पदार्थ रूप से तन्त्र में स्मरण किया गया है। इसलिए अकार और हकार में उनके अवयव रूप से दर्शन को शास्त्र प्रमाण द्वारा उनके सूक्ष्म रूपों को स्वीकार किया है। इसीलिए हार्दकला के योग में उसका दीर्घता से प्रतिपादन किया है। इसी का 'ईकार' कामकला रूप से मन्त्र रहस्यविदों ने प्रतिपादन किया है। इसी को योगिनी हृदय में कहा है– मध्य बिन्दु ही 'काम' कहा जाता है जो तुरीय बिन्दु विसर्ग के मध्य में स्थित है जो समष्टि और व्यष्टि में समाहित हुआ पर रूप है। अर्थात् हकार और अकार सामरस्य रूप में पर रूप ईकार रूप से विद्यमान है। यह अकुल और कुल दोनों कुण्डलिनियों का भाव रूप कुटिला भाव से यानी दोनों का प्रतिबिम्ब रूप है जो शून्य वियत पद से लक्षित है। विसर्ग दो बिन्दु रूप व्यष्टि है। उसी के अन्तर्गत सम्यक् चैतन्य रूप से आत्मतत्त्व की स्थिति है। वह उससे तन्मय है। अर्थात् उसमें विसर्ग की ही प्रधानता है। परे यानी अन्त में अकार हकार रूप से दोनों कुटिल आकृति वाले हैं, अर्थात् यही कुल और अकुल कुण्डलिनी के रूप में रूपान्तरित हुए स्थित हैं। इतना बड़ा विस्तार काम और विसर्ग का

है जो कुण्डलिनी रूप में अर्थवान है। वियत पद में शून्याकार रूप से काम ही प्रतिपाद्य है । कला पद में हार्द कलावत् विसर्ग ही स्थित है। यह काम और विसर्ग ही प्रतिबद्ध होकर कुण्डलिनी के प्रतिबिम्ब रूप हैं, एवं कुण्डलिनी से अभिन्न यह अकार और हकार रूप सम्भव होते हैं। यह श्लोक की साम्प्रदायिकी रहस्य व्याख्या है। इसप्रकार अकार हकार रूप ही कामकला है । उससे अद्भूत मन्त्र में जो विजातीय अक्षर ईकार है, उसके गर्भ में ही सूक्ष्म रूप से इन सारे वर्णों के अर्थ सहित सृष्टि का अवस्थान सिद्ध है। जैसे वट के बीज में उसके पत्ते, काष्ठादि रहते हैं इसीप्रकार इस कामकला में ही समस्त वर्ण अपने अर्थों सहित सृष्टि के मूल में स्थित है। जैसे वट के बीज के स्फोट होने पर जब अंकुर निकलता है, तो बीज के मध्य से निकलता है और उसकाल में कौनसा भाग उसका उत्तरार्ध और कौनसा पूर्वार्ध है, यह नहीं कहा जा सकता है। तथा कौनसा भाग स्त्री का है और कौनसा भाग पुरुष का है यह उस समय नहीं कहा जा सकता अर्थात दुर्ज्ञेय है। इसी प्रकार मन्त्र में भी बीजांश में अकार और हकार की स्थिति है जिसके ज्ञान के लिए संकेत भाषा का प्रयोग होता है। इसी को योगिनी हृदय में कहा है— जो व्योम मध्य प्राणप्रथा रूप से स्पन्दमान हुआ स्थित है, वही मन्त्र के मध्य में पिण्ड रूप से पुन: ईकार रूप से स्थित है। इसका अर्थ है कि— कामकला के मध्य विसर्ग रूप में जो प्राण रूप से चैतन्य प्रथा रूप से उत्पन्न होकर सुना जाता है उसी का यह सब है, जितना भी स्थूल प्रसार है। उसके रूप में जो स्पन्द व्योम है वह हकार ही है, यानी हकार के रूप में ही वह तत्त्व व्योम रूप से स्पन्दमान है। जो स्पन्दित और उदित होता है उसे ही स्पन्द कहते हैं। 'स्पन्दोव्योम' ही इउकी व्युत्पत्ति है, यानी उस विसर्ग से ही व्योम उत्पन्न होता है। किसी का कथन है कि हकार से ही व्योम उत्पन्न होता है। आत्मा के अन्दर जो विसर्ग है उसी से अभिन्न प्राणप्रथा रूप स्पन्द हकार ही है। स्थूल रूप में यही सृष्टि का अर्थ स्वरूप है। यह व्योम उसी का रूप है। जो हकार रूप से इसके अर्थ रूप में युक्त है। 'ह:' अर्थात् विसर्ग युक्त हकार ही शिव है और आकाश ही प्राण है। ऐसा मातृका कोष मे कहा गया है। इसके मध्य में दोनों की स्थिति है। अर्थात् इस

मन्त्र पिण्ड के एक पद में वह दोनों एक साथ ही समान अधिकरण रूप में समन्वित है तथा अपर भाव में दोनों भिन्न अधिकरण में स्थित हैं। यानी मन्त्र पिण्ड में वह दोनों ईकार में समान अधिकरण रूप में स्थित है तथा स्थूल जगत के व्यवहार में भिन्न-भिन्न स्थित है। मध्यम कूट में मध्यम व्यञ्जन में यानी द्वितीय हकार रूप में स्थित है। तथा इसी दूसरे कूट में सातवें व्यञ्जन में उसके चौथे वर्ण हकार में भी उसकी शक्ति की स्थिति है। यानी वह स्त्री लिंगक शक्ति इसप्रकार विशेष होकर स्थित है। तीसरे कूट के सकार में अकार का मूल बीज होकर स्थित है अर्थात् राहूकूट से स्थित है। लघुषोडान्यास के अन्तर्गत जो ग्रहों का न्यास है, उसमें श, ष, स, ह वर्ण चतुष्टय सहित उसके मुख के रूप में न्यास होता है। जैसा कि एक वचन है कि मुख में शादि रूप चार वर्णों सहित राहू रूप है। इसीलिए यह शादि रूप चार वर्णों का रूप राहुकूट है। उसमें अद्वय ब्रह्म ही तीसरे सकार में अभिन्न रूप से विद्यमान है। उसीके स्फुरण से यह सब शोभमान या स्फुरित होता है। यह नपुंसक लिङ्गवाला ब्रह्म ही विशिष्ट रूप शिव है। इसके रहस्य प्रकाशन के लिए इतना ही पर्याप्त है।

संगति :–अब इसके सम्पूर्ण अभिप्राय को कहते हैं––

अहकारौ शिवशक्ती शून्याकारौ परस्पराश्लिष्टौ।
स्फुरणप्रकाशरूपावुपनिषदुक्तं परं ब्रह्म ॥६९॥
विश्वसिसृक्षा वशतःस्वार्धांशक्ति विलोकयद्ब्रह्म।
बिन्दूभवति तमिन्दुं प्रविशति शक्तिस्तु रक्तबिन्दुतया ॥७०॥
एतत् पिण्डद्वितयं विसर्गसंज्ञं हकारचैतन्यम्।
मिश्रस्तु तत्समष्टिः कामाख्यौ रविरकचैतारन्यम् ॥७१॥
एषाहंपदतुर्यस्वरकामकलादिशब्दनिर्देश्या।
वागर्थसृष्टिबीजं तेनाहंतामयं विश्वम् ॥७२॥
अन्त्य प्रथमे ध्यचतुर्थे मन्त्रेऽपि तौ व्यक्तौ।
तेनाम्बामनुजगतामभेद एवात्र भावार्थः ॥७३॥

भावार्थ:–अकार और हकार ही शिवशक्ति रूप होकर शून्याकार रूप में परस्पर मिले हुए स्फुरण और प्रकाशरूप वपु वाले उपनिषद में कथित परब्रह्म के स्वरूप हैं।

विश्व सृजन की इच्छा से ब्रह्म अपनी शक्ति का अवलोकन करता है तब वह बिन्दु रूप हो जाता है जिसमें उसकी शक्ति भी रक्तबिन्दु रूप से उसमें प्रविष्ट हो जाती है।

यह दोनों का पिण्ड ही विसर्ग संज्ञा वाला हकार रूप चैतन्य है। यह मिश्र भाव ही उसकी समष्टि है जो 'काम' कहा जाता है; तथा रवि रूप अकार ही उसका चैतन्य रूप है।

यहाँ जो अहं पद तुर्य स्वर ईकार कामकलादि शब्द से कहा गया है वही वाणी और अर्थ रूप समस्त सृष्टि का बीज है। अस्तु, यह अहंतामय ही सारा विश्व है।

प्रथम कूट के अन्त में तथा मध्यकूट के चौथे वर्ण में यह दोनों इस मन्त्र में व्यक्त हैं। इस प्रकार देवी, मन्त्र और जगत का अभेद सिद्ध हुआ। यही इसका भावार्थ है।

टीका–यहाँ शिवबिन्दु शुक्लवर्ण चन्द्रात्मक बिन्दु का वाचक है। इस चन्द्र पद के इन्दु पद से बिन्दु का ही निर्देश है। भावार्थ से तात्पर्य जन्म से है जैसा कि अमरकोष का वचन है–'भावः सत्तास्वभावाभिप्रायचेष्टात्मजन्मसु'। यही इसका अर्थ या प्रयोजन है। यही ज्ञेय का यहाँ अर्थ है। अर्थात् यहाँ ज्ञेय को ही अर्थ रूप से कहा है, जैसा कि अमरकोष का वचन है–'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु' इत्यमरः।

संगति– अब सम्प्रदायार्थ कहते हैं––

व्योमादिजनकहकरसलार्णैर्घटनेन पञ्चभूतमयी ।
पञ्चचतुस्त्रिद्व्येकगशब्दादिगुणात्मपञ्चदशवर्णा ॥७४॥

भावार्थ– अब विद्या और विश्व की एकता बताई जाती है। मन्त्र में ह, क, र, स, ल वर्ण व्योमादि पञ्चभूतों के बताने वाले हैं, तथा उसके पन्द्रह वर्ण भूतों के गुणों को बताने वाले हैं। शब्दादि गुण पाँच, चार, तीन, दो और एक क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध के प्रतीक हैं। इसलिए इसकी पञ्चभूतात्मक विश्व से एकता है।

टीका- व्योम आकाश है तथा यहाँ आदि पद से वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ग्रहण करना चाहिए। इन पाँचों भूतों के जनक ह, क, र, स और ल वर्ण हैं। इस प्रकार ह क र स ल वर्ण घटित विद्या पञ्चभूतमयी है। इसी को एक श्लोक से कहा गया है जिसका अर्थ है कि हकार से आकाश उत्पन्न हुआ, ककार से वायु, रेफ से अग्नि, सकार से

जल तथा लकार से पृथ्वी बनी। इसलिए पञ्चभूतात्मक विश्वमयी यह विद्या है। यद्यपि प्रकाश विमर्श का सामरस्यात्मक भाव विशेष ही शब्दार्थ सृष्टि का जनक है, तथापि प्रकाशांश से अर्थ की सृष्टि होती है और विमर्शांश से शब्द सृष्टि होती है। यह दोनों परस्पर सापेक्ष भाव से अपने-अपने कार्य के जनक हैं, जैसा कि श्रुति स्मृति से सिद्ध होता है। एक के कार्य का जनकत्व दूसरे के कारण से होता है। अर्थात् यह दोनों तक दूसरे के कार्य-कारण अथवा विशेष्य-विशेषण भाव से अविनाभाव रूप होने से दोनों का ही स्वाभाविक कारणत्व सिद्ध है। इसी अभिप्राय के अनुसार तन्त्र में अन्य स्थानों पर कारणता के बोधक वचनों को समझना चाहिए। भगवान व्यासदेव ने भी ब्रह्मसूत्र में कहा है– 'शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानानीति ज्ञेयम्" अर्थात् यह प्रत्यक्ष जगत शब्द से ही उत्पन्न होता है। यही बात श्रुति स्मृतियों से सिद्ध है। इसी बात को भगवतपाद ने अपने भाष्य में निपुणता से प्रतिपादित किया है। इस प्रकार विमर्श शक्ति से प्रथम हकार उत्पन्न हुआ तथा प्रकाश से व्योम, तत्पश्चात विमर्श से ककार तथा प्रकाश से वायु, फिर विमर्श से रेफ तथा प्रकाश से अग्नि, फिर विमर्श से सकार तथा प्रकाश से जल, फिर विमर्श से लकार तथा प्रकाश से पृथ्वी उत्पन्न हुई। इस प्रकार क्रम से पञ्च महाभूतों की उत्पत्ति होती है। यह सत्य है कि हकार विमर्श का विशिष्ट रूप है तथा प्रकाश का व्योम विशिष्ट रूप है। अर्थात् विमर्श और प्रकाश ही शब्द और अर्थ भाव से पञ्चमहाभूतों के रूप में अविनाभाव से उत्पन्न होते हैं। ये दोनों कार्य और कारण भी हैं। कहीं कार्य की प्रधानता होने से कारण गौण रहता है तथा कहीं कारण की प्रधानता होने से कार्य गौण रहता है। परन्तु इनका सम्बन्ध अविनाभाव ही है। इसी प्रकार ककारादि को देखना चाहिए। अर्थात् विमर्श और प्रकाश ही हकारादि शब्द और व्योमादि अर्थ के जनक हैं। भूतों से भूतों की उत्पत्ति नहीं होती तथा इससे अन्यथा रूप में उत्पत्ति का क्रम लगाना गलत है। निश्चय ही विद्या के पञ्चभूतात्मक वर्ण ही पञ्चभूतात्मक सृष्टि के रूप हैं। मन्त्र के पूरे वर्णों की संगति इन पञ्चभूतों के गुणों में लगती है। आकाश पाँच प्रकार का है, वायु

चार प्रकार की है, अग्नि तीन प्रकार की है, जल दो प्रकार का है तथा पृथ्वी एक ही गन्ध गुण वाली है। (यह बात पूज्यपाद वार्तिककार के पञ्चीकरण से स्पष्ट हो जाती है) पाँच संख्यावाले भूतों के गुणों के अनुसार ही मन्त्र में वर्णों की संख्या है। व्योम पांच प्रकार का होने से उसके पांच वर्ण है। वायु चार प्रकार की होने से उसके चार वर्ण या स्पर्श हैं। अग्नि के तीन प्रकार होने से उसके तीन रूप है। जल दो प्रकार का होने से उसका रस दो प्रकार का है तथा पृथ्वी का एक ही गुण गन्ध है। इस प्रकार उपसंहार करने पर विद्या में पन्द्रह गुण स्थित हैं। विद्या के पन्द्रह वर्णों से यह सब अभिन्न है तथा इन पन्द्रह वर्णों से ही इनकी उत्पत्ति है। इस प्रकार पन्द्रह गुणों का पन्द्रह वर्णों के साथ अभेद है। इनके उपादान उपादेय भाव तथा वाच्य वाचक भाव एवं धर्म धर्मी भाव की वाच्यता संभव नहीं है। फिर भी यहां पन्द्रह संख्या वाले स्वरों की प्रधानता है। व्यञ्जनों का उनसे विशिष्ट रूप में उपपादन किया गया है। जैसे वेद मन्त्र में प्रजापति का विशेषण 'सप्तदश' है, यानी सत्रहवां प्रजापति। पाणिनीय सूत्र वार्तिक में भी 'चतुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च', 'चतु:शतमुत्कृति:' इत्यादि सूत्रों में इसको विस्तार से समझाया है कि इन पन्द्रह अचों को यानी स्वरों को गुणों का वाचक नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसका कोई प्रमाण नहीं है। अस्तु निश्चय ही पञ्च-हकार से पञ्च आकाश का जनकत्व तथा वाचकत्व अभेद रूप से सिद्ध है। अर्थात् उनके गुण शब्द के साथ अभेद है, यह सिद्ध प्राय: है। गुण और गुणी का अभेद होता है क्योंकि गुण गुणी से भिन्न नहीं होता, यह न्याय सिद्ध है। इसी प्रकार वाच्य और वाचक तथा लक्ष्य और लक्षक का अभेद है। इसीलिए प्रकृति में हकार का शब्द लक्षकत्व है यानी हकार की शक्ति का बोधक है। इसीलिए योगिनी हृदय में व्योम के बीज रूप हकार को मन्त्र में पञ्च हकारों को पांच आकाश का लक्षक शब्द पञ्चक करके कहा है। इसी बात को शक्ति बोधक शब्द सम्बन्ध प्रदर्शन के लिए कारिका में इस प्रकार से कहा है——

'भवेद् गुणवतां बीजं गुणानामपि वाचकम्।
कार्यकारणभावेन तयोरैक्यविवक्षया ॥'

अर्थात् यह गुण वाले बीज गुणों के ही वाचक होने से कार्य कारण भाव से एक ही समझना चाहिए। इसमें यह वर्ण लक्षक होते

हुए भी वाचक पद में प्रयुक्त होने के कारण उसके वाचक भी हैं। यानी यह वर्ण जब भूतों का लक्ष्य करके बताते हैं तो गौण रूप से उनके गुणों को भी बताते हैं। जिसप्रकार हकार को आकाश का वाचक माना है और आकाश के गुणों का भी वाचक गौण वृत्ति से माना है। इसीप्रकार वायु का वाचक शब्द वायु के स्पर्श गुण से अभिन्न ही उपपादनीय है। तथा जो पन्द्रह स्वर हैं उनके साथ इसका अभेद नहीं समझना चाहिए। अर्थात् जैसा पन्द्रह स्वरों को विद्या के साथ अभेद रूप से बताया है वहां उन स्वरों के साथ भूतादि गुणों की अभिन्नता नहीं मानना चाहिए। क्योंकि स्वरों के साथ प्रकृति में इसप्रकार की एकता विवक्षत नहीं है। ऐसा नियम है कि हकारादि व्यञ्जनों की संख्या भी मन्त्र में पन्द्रह ही है। इसप्रकार के प्रतिपादन की सम्भावना होने से उक्त बात की कोई संगति नहीं है। मन्त्र में स्वर पन्द्रह माने जाते हैं तो व्यञ्जन भी उसमें पन्द्रह ही हैं, अधिक नहीं हैं। यदि अधिक ही माने जाएँ तो हजारों हो सकते हैं। अर्थात् यदि पन्द्रह से अधिक माने जाएँ तो पन्द्रह तो उसके अन्तर्गत आ ही जाते हैं। न्याय से यह ठीक ही है। जिसके पास एक हजार हैं तो उसके पास सौ तो उसके अन्तर्गत होंगे ही।

भूतों के गुण पन्द्रह कहे जाते हैं तथा यह शिवा या विद्या उन गुणों से अभिन्न है। 'गुणाः पञ्चदशाख्याता भूतानां तन्मयी शिवा' इस वचन से तात्पर्य है कि यह विद्या तन्मयी होने के कारण भूतमयी तथा गुणमयी तथा पञ्चदश संख्या रूप अवयव-वती होने से देवी या शिव अभिन्न होने के कारण अर्थ और वर्ण की सम्भावना इस प्रकार समझना चाहिए –

'व्याप्ता पञ्चदशार्णैः सा विद्या भूतगुणात्मिका ।
पञ्चभिश्च तथा षड्भिश्चतुर्भिरपि चाक्षरैः ॥'

अर्थात् यह पञ्चदशाक्षरी विद्या भूत और उनके गुणों के साथ अभिन्न है। यह प्रथम कूट में पाँच, दूसरे में छः तथा तीसरे कूट में चार वर्ण होकर पन्द्रह अक्षरवाली यह विद्या है। इसका स्फुटतर वचनों से विरोध है। इसलिए इसको सामान्य रूप में पञ्चदश अक्षरों की गणना से ही प्रतिपादित करते हैं। जिससे विभिन्नप्रकार की

शंकाओं का परिहार हो जाता है। अर्थात् विशिष्य-विशिष्य भाव से तीनों कूटों के अक्षरों की गणना स्वर और व्यञ्जन दोनों को लेकर केवल पन्द्रह ही होती है। यानी पन्द्रह स्वर और पन्द्रह व्यञ्जन दोनों अलग-अलग नहीं हैं। इनकी पूरी संख्या केवल पन्द्रह ही निर्धारित की जाती है। इसलिए कहते हैं कि यह सब मिले हुए रूप पन्द्रह वर्णों में ही समझना चाहिए। तथापि हकारादि व्यञ्जनों से ही गुणों का अभेद है। इसलिए वही उनके वाचक हैं। यह पञ्चदश वर्ण हकारादि शक्ति बोधक शब्द हैं इनमें ही समवाय सम्बन्ध से समानाधिकरण रूप में हकारादि का सम्बन्ध है, यह शुद्ध हकारादि नहीं है। अन्यथा हकार को व्योम का वाचक बताया है। प्रकृति से शब्द लक्षणा का भी बोधक होने में युगपद रूप से विरोध आ जाता है। अर्थात् ऐसा नहीं है, क्योंकि शब्द जहां अपनी शक्ति का भान कराता है उसी के साथ अपनी लक्षणावृत्ति का भी भान करा देता है, जैसे मीमांसक वचन है– 'स्वर्ग कामं यजेत्' अर्थात् स्वर्ग का बोध कराने के साथ ही कर्त्ता के लिङ्ग का भी ज्ञान करा देता है। इसलिए जैसा श्लोक में कहा है– 'गुणानामपि वाचकम्' इसके साथ ही लक्षयेत् का अर्थ बोधयेत् करके लगाना चाहिए क्योंकि लक्षणा और धर्मत्त्व में विरोध आता है जो वाचक पद से अन्य अर्थ को बताता है। इसलिए वस्तुतः जो बीज गुणवतों के वाचक हैं वही गुणों के भी वाचक हैं ऐसा अन्वय कर लेना चाहिए। यह बात परिकरालंकार के अभिप्राय से समझना चाहिए। हकार शब्द शक्ति का द्योतक होते हुए ही आकाश का भी बोध कराता है। अर्थात् हकार केवल आकाश का बोधक ही नहीं है अपितु इसके साथ ही वह शब्द की शक्ति का भी बोधक है। वह गुण की शक्ति के साथ ही गुणी का भी वाचक है। इसलिए श्लोक में 'लक्षयेत्' का तात्पर्य तद्ज्ञानार्थक ही लेना चाहिए। उसमें एक होते हुए भी उभय शक्तियों का बोधकत्व है। तथा दोनों वृत्तियों का विरोध नहीं है। उसकी शक्ति बोधकता अभेद रूप से स्थित समझना चाहिए। पञ्चदश वर्णों में पञ्चदश गुणों का अभेद कथन श्रुति के अनुरूप है, जैसे– 'दश संपद्यन्ते। दशाक्षरा विराट्। अन्नं विराट्' अर्थात् यह सारा विश्व अन्न का ही विराट रूप है, इत्यादि स्तुति मात्र मानकर इसका विवेक कर लेना चाहिए ॥७४॥

संगति– जो प्रधान तेज का रूप है वह उसके बीज (र) से उत्पन्न होता है। अस्तु, इस वचनानुसार गुणों का गुणी बोधक अक्षर उसका जनक जानना चाहिए क्योंकि वह अपने अक्षर से अभिन्न होकर ही स्वारस्य अनुसंधान के लिए स्थित है। यहां इसी विषय को बताते हैं–

तत्तज्जनकैर्वर्णैस्तत्तत्संख्यैस्तु तद्गुणा जाताः ।
कामकलाभिश्चतसृभिरासीत् स्पर्शश्चतुर्विधो न तु कैः ॥७५॥

भावार्थ– गुणों की उत्पत्ति वर्णों से होती है। इनकी संख्या इनके जनक वर्णों की संख्या के समान ही है। चारों प्रकार के स्पर्श तीन कामकलाओं से एवं तृतीय ईकार से उत्पन्न होते हैं। परन्तु ककार से स्पर्श नहीं होते हैं।

टीका– व्योम जनक वर्णों से व्योम उत्पन्न होते हैं। उनके गुणों की संख्या उतनी ही है जितनी उनके वर्णों की। अर्थात् पांच वर्णों से ही पांच गुण संज्ञक व्योम उत्पन्न होते हैं। विद्या मन्त्र में तीन माया बीज के तीन हकार तथा मध्यम कूट के दो हकार मिलकर पांच हकार हो जाते हैं। इन पांच हकारों से ही यह पांच शब्दों के गुण वाला व्योम उत्पन्न होता है तथा उन शब्दों के अर्थ भी उन्हीं से उत्पन्न होते हैं। जिन शब्दों से जो भूत उत्पन्न होते उन्हीं से उनके अर्थ या गुण भी उत्पन्न होते है। यही कहा गया है कि उक्त व्योम बीज ही विद्या में स्थित पांच शब्दों के लक्षक हैं। अवश्य ही भावार्थ प्रकरण में मध्यम हकार को विद्या का मूल बीज कामकलार्थ रूप से कहा है, इससे शक्ति की वाचकता अब नहीं बनती क्योंकि शब्द का लक्षकत्व वही है। परन्तु तन्त्र में उसके वाचकत्व एवं लक्षकत्व दोनों वृत्तियों का परिहार है। अर्थात् उक्त वर्ण में वाचक और लक्षक दोनों भाव युगपद रूप में हैं, जैसे– 'गङ्गायां घोषमत्स्यौ' इत्यादि वचन में दोनों भाव समन्वित हैं। वस्तुतः यह अकार और हकार शिवशक्ति के मूल बीज हैं। ये सूक्ष्मतम से भी सूक्ष्मतम रूपों से युक्त हैं। यहां वैखर्यात्मक स्थूल रूप में उनके स्थूल अर्थों को बताते हैं। अतएव मध्यम प्राण जो हकार है वह अपने रूप में अपने प्रथा के अनुरूप स्पन्द को बताता है जो स्थूलात्मक सृष्टि के साथ तदरूप होकर व्योम रूप हकार में स्थित है तथा स्थूल हकार नहीं है अपितु उसकी शक्ति रूप है। उक्त प्रकार से यह कारण रूप

से स्थित हुआ परम ध्वनि रूप है। उन्हीं शब्दों में ही शब्द सृष्टि के सारे अर्थ भी समन्वित हैं। उसके रूप में सूक्ष्म से सूक्ष्म यानी परम सूक्ष्म रूप में ही कारण शक्ति का रूप है। उसी सदृश रूप को वह लक्षणा से ध्वनि रूप में सद् को बताता है। ध्वनि से अभिन्न ही वह सत् रूप में 'परम' स्थित है। यहां परम से परब्रह्म का अर्थ है। सारे वर्णों के साथ उनका वर्णांश ध्वनि रूप में परस्पर मिला हुआ रहता है। जैसे स्वर्ण में उसका पार्थिव और तेजांश परस्पर मिला हुआ ही रहता है। इसी प्रकार कत्वादि वर्णों के धर्म तथा षड्जादि ध्वनि के धर्म परस्पर मिले रहते हैं। इसी प्रकार सारे वर्णों में इसका अनुभव होता है। अतएव शारीरिक भाष्य में स्फोट का निराकरण करके वर्णों की नित्य स्थिति ही स्वीकार की गई है। उसका कारण है कि उनमें एक अव्यक्त रूप के प्रतिपादन से एक विलक्षणता का अनुभव होता है। इसलिये देवताओं के अधिकरण में सबका आलम्बन ध्वनि रूप में ही प्रतिपादित किया गया है तथा मध्यम हकार ध्वनि अंश से परब्रह्म का वाचक है तथा वर्णांश शब्द लक्षक है। यही इसका भाव या विवेक है।

परन्तु हादि विद्या के पक्षपाती योगिनी हृदय के सम्पूर्ण तन्त्रों का तात्पर्य हादि विद्या के अनुसार लगाकर इसे अन्य प्रकार से वर्णन करते हैं। उनके अनुसार छठा अक्षर हकार ही पांचों (हकार) शब्दों का कारणभूत जो ध्वनि है वह नाद रूप में उनसे तन्मय है और उनका वाचक है। परन्तु हादि समर्थक लोगों के कथन से ग्रन्थ की स्वाभाविकता भङ्ग हो जाती है। अस्तु, निश्चित व्याख्यान ही ज्ञात है जिसका यथास्थान स्पष्टीकरण किया जाएगा। क्योंकि निश्चय ही यदि वायु का जनक ककार माना जाय जिसका स्पर्श चार प्रकार का है, तो चार ककार उपलब्ध न होने से उनकी उपपत्ति नहीं लगाई जा सकती है। अस्तु, वायु की संगति नहीं लगती है। महामाया बीज के तीन ईकार तथा चौथा ईकार मन्त्र का तीसरा अक्षर है जिससे चारों स्पर्शों की उत्पत्ति है। कहा भी है--

'महामायात्रयेणापि कारणेन च बिन्दुना।
वाय्वग्निजलभूमीनां स्पर्शानां च चतुष्टयम् ॥
उत्पन्नं भावयेद्देवि स्थूलसूक्ष्मविभेदतः।'

अर्थात् महामाया बीज से तीन ईकार एवं मन्त्र का तीसरा वर्ण ईकार मिलकर वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी रूप चार स्पर्शों के वाचक हैं। यानी इन्हीं से चारों स्पर्श उत्पन्न होते है जिनकी स्थूल और सूक्ष्म रूप में भावना की जाती हैं।

महामाया बीज के तीन ईकार जिनका कारण मन्त्र का तीसरा ईकार है जिसे पहले विश्व का कारण बताया गया है। चारों काम-कलाओं का विशेषण बिन्दु ही है। अस्तु, उससे उसका त्रिबिन्दुत्व होने के कारण वह तुर्य बिन्दु का जनक है। इससे वायुमण्डल को बिन्दु से लक्षित बताया गया है। स्थूल में यह व्यापक वायु रूप है, सूक्ष्म में वह बिन्दु अग्नि त्रय निष्ठ व्याप्य अवस्था वाला है। हादि पक्षपातियों ने ककार तथा कामकला दोनों को हादि विद्या में तीन-तीन संख्या वाले होने पर चौथे के अभाव को बिन्दु का विभाग करके गणना पूरी की है। उनके पक्ष में एक ही कामकला तीन-तीन बिन्द्वात्मक रूप से नव प्रकार की हो जाती है। विसर्ग के दो बिन्दुओं में प्रत्येक बिन्दु तीन कामकला एवं तीन विसर्गों में विभक्त होकर छ: प्रकार का हो जाएगा। कामकला तीनों एक ही विसर्ग से युक्त होने के कारण तीनों ही के दो रूप हो जाते हैं। तथा तुर्य बिन्दु के मिलने से उपरोक्त विभाग बारह प्रकार का हो जाता है। उसके अभाव में सर्वथा तीन-तीन की ही सिद्धि होती है। चौथी संख्या की सिद्धि नहीं होती है। अस्तु, महामाया बीज जो 'ह्रीं' है उसमें कामकला ईकार रूप जो तीन बिन्दु हैं उनके कारण तुर्य बिन्दु रूप व्याख्यान से वह अन्य ईकार व्यर्थ हो जाता है। यह स्पष्ट है जैसे– दो कपालों से घट बनता है और कपाल घट के कारण हैं, इस प्रकार का जनकत्व शब्द का नहीं है। अपितु इनका विचार इस प्रकार है जैसे कच्चे घट और पक्के घट में कार्य कारण रहते हुए भी गुणों की उत्पत्ति होकर अन्य प्रकार से उनका दर्शन होता है। इसी प्रकार का उक्त सम्बन्ध समझना चाहिए। माया के अन्तर्गत जो तीन प्रकार के रूप हैं वे रेफ से जन्य हैं। जैसा कि एक वचन है– 'रूपाणां त्रितयं तद्वत् त्रिभि: रेफैर्विभावितम्' अर्थात् रूप तीन प्रकार के हैं, वे तीन रेफों से भावित होते हैं यानी उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार दो रस दो सकारों से उत्पन्न होते हैं।

जैसा कहा गया है– विद्या में जो दो चन्द्र बीज है उनसे ही स्थूल और सूक्ष्म रस का स्मरण करना चाहिए। चन्द्रबीज सकार है। स्थूल व्यापक जल रूप है तथा सूक्ष्म व्याप्य रूप भूमिगत है, पद में उनका स्पष्ट भाव नहीं है, इसलिए स्मरण से उनका विचार कहा है। इसी न्याय से पदार्थ की स्थिति है अर्थात् स्मरण के रूप में उनका भाव रहता है। यद्यपि कादि विद्या में दो सकार हैं और उसमें उनकी स्थिति चन्द्रबीज के रूप से है। अस्तु, उक्त बहुवचन से दो प्रकार के रस माने गए हैं। यहां 'अक्षीणि मे दर्शनीयानि' अथवा 'पादा मे सुकुमारा:' आदि महाभाष्य के द्विसंख्यक वचनों के अनुसार लक्ष्य करके कहा है। इसलिए स्थूल और सूक्ष्म पदगत प्रत्येक वचन को दो बार स्पष्ट किया है। अवश्य ही व्योम बीजों से व्योम गुण को लक्षित करके शक्ति बोधक शब्द से सम्बन्ध बताया गया है। इसी प्रकार चन्द्रवाचक बीजों से चन्द्रगत अमृत को लक्ष्य करके वाच्य रूप में कहा है। परन्तु जलगत रस को लक्षणा से ही समझना चाहिए। इसमें असम्बन्ध लक्षणा का प्रसङ्ग नहीं है। व्योम वाचकता एवं वायुगत शब्द लक्षकत्व के समान उक्त उत्पत्ति नहीं है क्योंकि वहां व्योम के गुण की व्यापकता उस शब्द से समवेत है। अर्थात् शब्द ही व्यापक होकर उस सम्बन्ध में स्थित है। अतएव 'प्रधान तेज का रूप उसके बीजों से ही जन्य है।' इस वचनानुसार तेज रूप की व्यापकता लक्षण प्रधान है जो शक्तिबोधक शब्द के द्वारा बताया गया है। इसी न्याय से हकारों का विचार है, इसमें कोई दोष नहीं है। परन्तु जल के समान अमृत की व्यापकता नहीं है। यदि इसमें इसके अभाव को माना जाए तो वह भी ठीक नहीं है क्योंकि अमृत भी रस के रूप में समवेत होकर लक्षणा से उसकी उत्पत्ति कही गई है एवं लोक में भी यह विदित है कि अमृत रस रूप ही है। अमृत और रस आश्रय और आश्रयी लक्षणा वाले हैं। यानी इनका अभिन्न लक्षण या सम्बन्ध लोक प्रसिद्ध है। लक्षणा से यह बात अविदित नहीं है। शक्ति बोधक शब्द से व्योम रूप में भी अमृत का रस से अभेद है। ऐसा ही लोक प्रसिद्ध है कि रस और अमृत अभिन्न हैं। यानी शक्ति के सकार का रस भी शक्तता अवच्छेदक है। अर्थात् अमृत व्याप्य होते हुए भी सकार शब्द की शक्ति का बोधक है।

हादि विद्या के पक्षपाती चन्द्रबीज के बढ़ जाने से उनकी संगति बहुवचन से उनके गुणों को मानकर तुष्ट होते हैं। तथा सकार की रस रूप से व्याख्या करके उसे दो प्रकार का बताते हैं, परन्तु तीसरे सकार की शङ्का करने पर उसे अमृतगत कहकर रस को एक ही प्रकार का कहते हैं और उसके लक्षक उक्त दोनों सकारों को मानकर अपने ग्रन्थ में समाधान कर लेते हैं। उसमें जब तीसरे सकार को भूजल भेद से कहते हैं तो भूतों की संख्या छः हो जाएगी यह शङ्का पैदा हो जाती है।

अस्तु, जल और अमृत का सम्बन्ध लोक प्रसिद्ध है, इसलिए जल को उसी के अन्तर्गत मानकर उसकी व्याख्या करते हैं। इसलिए सकार पद जल के लक्षणा वाला है। स्थूल सूक्ष्म रूप से प्रत्येक उपलब्धि दो प्रकार के विरोध को जल में अन्तर्भाव करके व्यर्थ के विवाद में नहीं पड़ते। प्रत्युत जल और अमृत अभिन्न हैं। मुख्य रूप से तीसरे सकार को अमृत वाचक नहीं मानते न इसका अर्थ ही लगता है। लकार गन्ध का बोधक है जो पृथ्वी में स्थित है। अस्तु, लकार को गन्ध का वाचक इस वचन से मानते हैं– 'वसुन्धरागतो गन्धस्तल्लिपिर्गन्धवाचिका'॥

संगति–उक्त प्रकरण में लकार को गन्ध का वाचक बताया गया है, परन्तु विद्या में तीन लकार हैं जिनमें एक तो गन्ध का वाचक हुआ, शेष दो लकार व्यर्थ नहीं हैं सो बताते हैं।–

भुवनत्रयसंबन्धादासीत् त्रेधा लकारोऽपि।
ये ये यद्यज्जनकास्तेषां तेषां त एवार्थाः ॥७६॥

भावार्थ–तीन भुवन के सम्बन्ध से मन्त्र में तीन लकारों की स्थिति है। जो जिस भुवन का जनक है वही उसका अर्थवाला है।

टीका–तीन भुवन के सम्बन्ध से उनके वाच्य और वाचक रूप में तीन प्रकार के जन्य और जनक भाव सम्बन्ध को बताने वाले यह तीन लकार हैं। जैसा कि एक वचन से सिद्ध है– 'भुवनत्रयसंबन्धात् त्रिधात्वं तु महेश्वरि'।

संगति–अब बताते हैं कि पहले जो ककार को वायु का जनक बताया था, अब अर्थान्तर से जो जिस अर्थ का जनक है, वही उसी के साथ ही अन्य अर्थ का भी बोधक अपवाद के रूप में है—

ककारत्रयवाच्यास्तु सकलाः प्रलयाकलाः ।
विज्ञानकेवलाश्चेति त्रिप्रकारा उपासकाः ॥७७॥

भावार्थ-विद्या मन्त्र के तीन ककार सकल, प्रलयाकल और विज्ञानाकल तीन प्रकार के उपासकों को बताते हैं या उनके वाच्य हैं।

टीका–प्रमाता, साधक और पशु पद भेद से साधक या उपासक तीन प्रकार के होते हैं। ये उत्तम, मध्यम और अधम रूप से शुद्ध, मिश्र और अशुद्ध पद से अथवा सकलादि पद से क्रमशः कहे जाते हैं। इनमें भेद दृष्टि वाले 'शिवोहं' भावना से रहित कर्म में रत प्रथम हैं। तथा जिनका कर्ममल पक चुका है उन्हें बताते हैं– वे चितिः, चैत्य चैतन्य, चेतना तथा दोनों प्रकार के कर्म, जीव, कला शरीर यह सूक्ष्म पूर्यष्टक रूप होते हैं।

उक्त श्लोक के अनुसार पुर्यष्टक सम्बन्धशाली कर्म और ज्ञान मार्गी साधारणतः दो प्रकार के ही बताये हैं। तथा जिनकी भेद बुद्धि समाप्त हो गई है, सर्वत्र शिवैक दृष्टिपूर्ण ज्ञान स्वरूप हैं यह तीसरे लोग या उपासक हैं। इनका विचार स्वच्छन्द संग्रह में विस्तार से वर्णित है। यही मन्त्र के तीनों ककारों के वाच्य है। तथा कहा भी है कि अशुद्ध, मिश्र तथा शुद्ध तीन प्रकार के प्रमाताओं के रूप होते हैं। विद्या में तीन ककारों के द्वारा इनको प्रकाशित किया गया है। क्रोधीश ककार को कहते हैं। यह तीनों प्रत्येक व्यञ्जनात्मक हकार ककार के वाचक कहे गए हैं तथा अकारों को इनसे पृथक समझना चाहिए जिसका वर्णन आगे करेंगे ॥७७॥

अकारैर्दशसंख्याकैरुच्यन्ते जीवराशयः ।
विद्यायाः प्राणभूतः संस्तद्वाच्येकादशः स्वरः ॥७८॥

भावार्थ– समस्त जीव समुदाय को दश अकारों से बताया गया है तथा ग्यारहवाँ स्वर जो एकार है वह विद्या का प्राणभूत जीवन का वाच्य है।

टीका–दूसरे, तीसरे वर्ण तथा तीनों हृल्लेखाओं को छोड़कर शेष अक्षरों के दश अकार होते हैं। यह दश अकार जीवों की राशियों के वाच्य है। जीव एक प्रकार के ही नहीं हैं अतः उन्हें दश अकारों से अनन्त प्रकारों में बताया है। भावार्थ प्रकरण में तीसरे कूट के अकार को ध्वनि स्वरूप बताया है। तथा यहां उसे मूल बीजांश रूप से कहा है। अस्तु, इसमें कोई विरोध नहीं है। ग्यारहवां स्वर एकार विद्या लक्षण वाला मूलबीज विद्या का प्राण स्वरूप है तथा स्वयं का भी वाच्य है। इस प्रकार समझिए कि जैसे एक वृक्ष के काट देने पर वह अपने आध्यात्म वायु सम्बन्ध से पुनः अपनी जड़ से हीं निकल आता है, उसी प्रकार एकार को विद्या का प्राण जीवन समझना चाहिए। कहा भी है—

'श्रीकण्ठदशकं तद्वद्व्यक्तस्य हि वाचकम्।
प्राणभूतः स्थितो देवि तद्वदेकादशः स्वरः।
एकः सन्नेव पुरुषो बहुधा जायते हि सः॥'

अर्थात् दश अकार विद्या के व्यक्तत्व रूप जीव समुदाय के वाचक हैं तथा एकादश स्वर 'एकार' उसके प्राणभूत स्थिति का भाव है। जैसे एक ही पुरुष बहुधा उत्पन्न हो जाता है, ऐसा ही यह इसका भाव है।

श्रीकण्ठ अकार को कहते हैं तथा अव्यक्त जीव को भी तथा एकादश स्वर 'एकार' सन्धि में स्थित विद्या का नाभि रूप केन्द्र भाव है। जैसा कोष का वचन है--

'संधिरेकादशो भद्रां पद्मनाभः कुलाचलः'।

यह एकादश एकार रूप आधार रूप बीज त्रिकोणात्मक है। इसी में यह 'ब्रह्माण्डादि कटाहान्तं' के समान दृश्य दिखाई देता है। इस प्रयोग में यह शब्द योगारुढ़ है। शुद्ध योग की अपेक्षा से यह पर रूप में स्थित है। इसी से यह प्रकृति एक होते हुए भी बहुत रूपों में परिणत हो जाती है। उक्त वचन कादि मत का है कि यह त्रिकोणात्मक एकार बीज समस्त ब्रह्माण्ड रूपी कटाह को दर्शाता है। हादि पक्ष में शुद्ध योगिक अर्थ को ही माना गया है श्रीकण्ठ यानी अकारों को

ग्यारह मानकर बारहवां पुरुष 'परशिव' का वाचक कहा है, परन्तु यह कल्पना क्लिष्ट है। इसमें स्वर को विशेष्य रूप से कहा गया है। अस्तु अकार दश ही हैं जैसा कि श्लोक में कहा है। एकार को अकार नहीं माना गया है, क्योंकि रूढ़ अर्थ की प्रबलता रहती है। इस प्रयोजन से ऐसा ही माना गया है। ज्ञानार्णव तन्त्र में भी कहा है–

'आद्यं वाग्भवमुच्चार्य कामबीजं द्वितीयकम्।
कुमार्यास्तु तृतीयं तु त्रिपुरा परमेश्वरी॥'

अर्थात् पहले वाग्भव यानी एकार (ऐं) दूसरा कामबीज (क्लीं) तीसरा कुमारी बीज (सौः) यह त्रिपुरा चक्रेश्वरी का मन्त्र है। यह त्रिपुरा चक्रेश्वरी मन्त्र के उद्धार के साथ बताया गया है कि यहाँ जो कुमारी प्रतिसम्बन्ध से निर्देश है, उसमें प्रथम और द्वितीय अक्षर लिया जाएगा। जैसा कि दक्षिणामूर्ति संहिता में बताया गया है। और फिर अं आं सौः इस प्रकार से प्रथम चक्रेश्वरी मन्त्र का उद्धार होगा। अन्यथा बाला और त्रिपुरा चक्रेश्वरी में कोई अन्तर न रहेगा। इसलिए मातृका में एकादश इस प्रकार लिया जाएगा कि-प्रथम का तीसरा वही होगा जो ऊपर कहा है। ऐसा ही हादि पक्ष में कहा गया है। उसका वर्णन साम्प्रदायिकी व्याख्या में नहीं कहा जा सकता है। तथापि ककार प्राण वाचक अकार है जो जीव का वाचक है। उनका इस प्रकार निर्धारण करना ठीक नहीं है॥

संगति–जिस बात को योगिनी हृदय में कहा है अब उसी का स्पष्ट वर्णन करते हैं—

बिन्दुभिस्त्रिभिरुच्यन्ते रुद्रेश्वरसदाशिवाः।
शान्तिः शक्तिश्च शंभुश्च नादत्रितयबोधनाः॥७९॥

भावार्थ–तीनों बिन्दुओं द्वारा रुद्र, ईश्वर और सदाशिव का निर्देश हुआ है। तथा शान्ति, शक्ति और शंभु ही तीन नादों से बोधित होते हैं।

टीका–रुद्र ही तेज स्वरूप है। जैसा कि श्रुति वचन है–'रुद्रो वा एष यदग्निः'। अस्तु, स्वच्छन्द संग्रह के कथनानुसार 'पुरुषादिकमायान्तं तेजस्तत्त्वं महेश्वरि' अर्थात् पुरुष, नियति, काल, राग, विद्या, कला

और माया पर्यन्त ये तेज़ तत्त्व रूप है । शान्ति, प्रकृति और शुद्ध विद्या को अर्द्धचन्द्र से उन्मना पर्यन्त आठ वर्ण नाद रूप से कहा जाता है । इसलिए शान्ति, प्रकृति और शुद्ध विद्या को नाद के तीन प्रकार का बोध कराने वाली ही समझना चाहिए ।

एवं सप्तत्रिंशत्संख्याकपदैर्महाविद्या ।
षट्त्रिंशत्तत्त्वानां तत्त्वातीतस्य चाभिधात्रीयम् ॥८०॥

भावार्थ–इस प्रकार यह महाविद्या सैंतीस संख्यक पद वाली है । जिसमें छत्तीस पदों से यह छत्तीस तत्त्वों वाली छत्तीस तत्त्वों को बताती है तथा सैंतीसवें पद से यह तत्त्वातीत का ज्ञान कराती है ।

टीका- श्लोक में महाविद्या के अन्तर्गत छत्तीस तत्त्व एवं तत्त्वातीत भाव बताया गया है जो इसप्रकार है-पाँच व्योम बीज हैं, चार कामकलाएं तथा दो चन्द्रबीज हैं । एवं रेफ, पृथ्वी बीज, ककार, बिन्दु तथा नाद ये पाँचों तीन-तीन हैं । अकार दश तथा एक एकार है । इन सब पदों का जोड़ सैंतीस होता है यही समस्त सैंतीस पद हैं । जिनमें तत्व छत्तीस है तथा तत्त्वातीत भाव ब्रह्म सैंतीसवाँ है । यही इन पदों का अर्थ है । यह छत्तीस तत्व इसप्रकार है–शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, शुद्धविद्या, माया, कला, विद्या, राग, काल, नियति, पुरुष, प्रकृति, अहंकार, बुद्धि, मन, श्रोत्र, त्वक, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, आकाश, वायु, तेज, आप, पृथ्वी । इनकी उत्पत्ति क्रम का स्वरूप सौभाग्य सुधोदय ग्रन्थ में देख लेना चाहिए । विस्तार भय से यहाँ इसका वर्णन नहीं किया गया है । इनमें शिवशक्ति शुद्ध विद्या और प्रकृति के वाचक दो बिन्दु हैं । सदाशिव से पुरुष पर्यन्त नव तत्त्वों के वाचक नव नाद हैं । शब्दादि, आकाशादि, श्रोत्र, वागादि पाँच इन्द्रियों के वाचक पाँच हकार हैं । अहंकार, बुद्धि और मन के वाचक तीन ककार हैं तथा श्रीकण्ठ यानी दश अकार के वाचक इन तीन के अर्थ यानी पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और उनके पांच-पांच तत्त्व । इस प्रकार यह छत्तीस हुए । तथा एकादश एकार का वाच्य तत्त्वातीत भाव है । यह इनका विवेक है । यद्यपि हकारादि शब्दों से

यहां केवल भूतादि भावों की ही वाच्य वाचकता कही गई है। उनकी इन्द्रियादि एवं विषयादि का विचार नहीं कहा है। तथापि –

'स्वरव्यञ्जनभेदेन सप्तत्रिंशत्प्रभेदिनी ।
सप्तत्रिंशत्प्रभेदेन षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपिणी ।
तत्त्वातीतस्वभावा च विद्यैषा भाव्यते मया ॥'

अर्थात् स्वर व्यञ्जन भेद से वह सैंतीस तत्त्वों को भेदने वाली है। तथा सैंतीस तत्त्व भेदन के साथ ही छत्तीस तत्त्व रूपा भी है, एवं तत्त्वातीत स्वभाव वाली भी यह विद्या है। ऐसी हम भावना करते हैं। इस वचनानुसार हमें उसके तत्रद् अर्थ के विचार को भी समझ लेना चाहिए।

सैंतीस वर्णों के सैंतीस तत्त्व क्रम से शक्ति के ही वाच्य नहीं हैं। हकारादि में निश्चित शक्ति का परित्याग करके अन्य शक्ति का ग्रहण होने की आपत्ति होने पर समझना चाहिए कि इस पक्ष में कोई दोष नहीं है। क्योंकि एक को उसकी (स्वरूप) शक्ति से जानना चाहिए अर्थात अविद्या रूप में जानना चाहिए तथा दूसरी को लक्षणा से वाच्य समझना चाहिए (तटस्थ)। क्योंकि दो वृत्तियों का युगपद रूप होने में विरोध नहीं है। अस्तु, उक्त वचनानुसार सैंतीस तत्त्वों को शक्ततावच्छेदकत्व रूप में अर्थात् शक्ति की सीमा निर्धारित करने वाले मान लेने पर पूर्व विचार में कोई दोष नहीं रह जाता है। क्योंकि केवल हकार की व्योम वाचकता से उसके ज्ञान की विरोध भावना है। अस्तु इसमें दो वृत्तियों की युगपद स्थिति में तो विरोध है ही नहीं जैसा कि कहा गया है। इसलिए प्रमाण और प्रमित यानी ज्ञान में विशेष की कल्पना कर लेने पर अनेकार्थ तो रहेंगे ही। इससे पदों के दोषों का अपने-आप मार्जन हो जाता है तथा निश्चित शक्ति का परित्याग भी सर्वथा प्रमाणिक नहीं है।

दूसरा प्रश्न है कि प्रथम वर्णन में विद्या में अठावन वर्णों का कथन है तथा यहां सैंतीस तत्वों की गणना है जिसे कैसे सत्य माना जाय? वस्तुत: यहां संख्या वर्णगत कही है। यह कण्ठ से सुनी जाने वाली संख्या की गणना नहीं है। केवल पदों में निष्ठित उत्पन्न हुई

सुनी जाने वाली संख्या है । अस्तु, अर्द्धचन्द्र आदि वर्णों के अष्टक ही पद रूप हैं । इसी में कामकला के चारों अवयव भी वर्ण रूप से अङ्गीकार किए गए हैं, इससे कोई हानि नहीं है । इसीलिए त्रिपुरा मन्त्र में उसका समूह ही मूल कारण होने से महामेरु में अर्द्धचन्द्रादि अष्टवर्ण अर्द्धचन्द्र रूप में माने गए हैं । क्योंकि 'नव अक्षरों वाला महामेरु इस ब्रह्माण्ड गोलक का रूप है' इत्यादि व्यवहार तन्त्रों में देखा गया है । वस्तुतः अर्द्धचन्द्रादि रूपों में भी उसके स्थान स्वरूपादि के भेदों से वह अनेक वर्णों से युक्त है । इसीलिए कामकला के अवयवों में उसका वैषम्य है । यह मूल में ही इसी प्रकार कही गई है । अतः 'शक्तं पदम्' सूत्र से इसका इस प्रकार शक्ति रूप अर्थ किया गया है । यानी शक्ति बोधक शब्द ही पद का अर्थ है । यहां पाणिनीय सूत्र– 'सुप्तिङन्तं पदम्' के अनुसार इसकी व्याख्या नहीं हैं । क्योंकि वह केवल सामान्य विभक्त पद का अर्थ बताता है । अस्तु इस सूत्र के न्याय से इसमें 'शक्तं पदम्' सूत्र की ही व्याख्या है । इसमें आधुनिक परिकल्पित परिभाषा उसके पदत्व के अनौचित्य के कारण अप्रमाणिक है । इस प्रकार विद्या का प्रत्येक प्रतिपादित अक्षर सार्थक पद संज्ञा में शक्त है अर्थात् सार्थक, सक्षम, सामर्थ्यवान है । यह अर्थ इसका 'सुप्तिङन्तं पदम्' सूत्र से नहीं लगता है । अस्तु, प्रत्येक पद अर्थवान समर्थ होने के कारण प्रतिपादिक संज्ञा 'सुप' की उत्पत्ति होने पर कहीं रूपान्तरण के द्वारा कहीं साकल्य या सम्पूर्णता से 'सुप' के लोप हो जाने पर भी इसका प्रत्येक अक्षर पद है तथा इसी प्रकार ककारादि में 'जश' की भाव प्राप्ति 'किति' 'पिति' आदि एकाक्षर पद में उसकी अनित्यता के ज्ञापन से नहीं होती है । इसीलिए स्वर–व्यञ्जन भेद से विद्यमान में उसका यह अर्थ कहा गया है । अर्थात् जो स्वर–व्यञ्जन के भेदों में कहीं जाने वाली उनसे संयुक्त है, अभेद रूप से कहीं जाने वाली वही उनमें लोक सिद्ध उनके अङ्गाङ्गी भाव में विद्यमान है । जैसे उसके अंग स्वर हैं उसी प्रकार उसके ही अङ्ग व्यञ्जन हैं । अर्थात् व्यापक व्यक्ति अङ्गी भाव से व्याप्य वर्ण रूप अङ्ग में इस विद्या के पदों में विद्यमान है । उसमें ककार, सकार, हकार, लकार के दश संख्यक भाव उसके अपने ही व्यवहितोत्तर उच्चार्यमाण श्रीकण्ठ के अङ्ग है । आदि में हृल्लेखा

वाले हकार भी अपने-अपने पूर्व उच्चारित लकार वाले श्रीकण्ठ के ही अंग हैं। यद्यपि 'संयोगादि' सूत्र से यही प्रतीत होता है तथापि 'नान्तस्थापरमसवर्णम्' सूत्र से वे उसके ही अङ्ग रूप से वाच्य है। वस्तुत: कामकला के बिन्दु सहित रेफ भी उसके अनुस्वार रूप में विद्यमान हैं। यह बात यजुर्वेद के प्रातिशाख्य सूत्र त्रिभाष्य रत्नादि से उनकी व्याख्या जानने वालों के लिए अधिक स्पष्ट है। प्रकृति में उनका विशेष रूप निहित है। बिन्दु निश्चय ही अपने उत्तर में उच्चारित होते हुए भी नाद नाम वाले स्वर का ही अङ्ग है, कामकलाओं का नहीं। जैसाकि प्रातिशाख्य का 'तत्परस्वरम्' सूत्र से सिद्ध है, इसके अनुसार स्वर के पूर्व अनुस्वार का उच्चारण नहीं किया जा सकता क्योंकि वह अपने पूर्व के स्वर का ही अङ्ग है। अनुस्वार ही इस सूत्र का विषय है। लोक एवं वेद संहिता में कहीं पर भी अनुस्वार के बाद स्वर का उच्चारण नहीं दिखाई देता है। मकार और नकार में 'हल' होने के परे 'झल' होने पर अनुस्वार की विधि है। 'मोऽनुस्वार:' 'नश्चापदान्तस्य झलि' यह इस पाणिनीय सूत्र से उपलब्ध है। तथा यह उसके परे होने पर सवर्ण वर्णान्तर आपत्ति विधान से श, ष, स, ह राहु कूट में 'हंस:' इसप्रकार आत्मलाभ के आशय से वेद मात्र का आश्रय लेकर प्रकृति होने के कारण प्रात्यसाख्य मुनि के द्वारा अनुस्वार मात्र का पूर्वाङ्गत्व 'अनुस्वार:' आदि सूत्र से कहा गया है। अस्तु, इसको यहां अप्रयोजनीय मानकर विस्तार भय के कारण नहीं कहा है। अत: यहां भी प्रथम तथा द्वितीय कूटस्थ अनुस्वारों में उसके पूर्व हकार, सकार ही पर सवर्णादि वर्णान्तर भाव से अपने पूर्व के अङ्गों के ही वाच्य हैं। कूटों का पृथक-पृथक उच्चारण न होने के कारण स्वर का मिलकर ही उच्चारण होने पर बिन्द्वादि नवक के उत्तर कूट में प्रवेश के विधान से हकारादि का पूर्व भाव ही गृहीत है। वस्तुत: हलत्व ही व्यञ्जनत्व है, फिर इसको अन्यथा कहने की आवश्यकता ही नहीं है। अत: 'हलोऽनन्तरा: संयोग:' सूत्र से कही गई संयोग संज्ञा 'हंस:' सकार में है। उसके अभाव में हकारीय अकार में 'संयोगे गुरु' सूत्र से यह गुरु संज्ञा सिद्ध नहीं होती है जो हमें निश्चय ही इष्ट है। तब हम इसे छन्दसि प्रयोग मानकर पिङ्गल सूत्र 'ध्रादिपर:' में छन्दभास्कर से देख लेते हैं तथा व्यञ्जन रहित वर्ण वा

पूर्व अङ्गत्व स्पष्ट ही संयोगादि प्रातिशाख्य सूत्र से संयुक्त अक्षरादि में है। अस्तु, 'अनुस्वार:' इत्यादि सूत्र पृथक योग व्यर्थ है। अत: स्वर के परे अनुस्वार लोक और वेद संहिता में नहीं देखा जाता है जिससे उसकी सार्थकता हो। अस्तु, सूत्र से पृथक सूत्र करण ही श्रीविद्या अनुस्वार ही विषय है ऐसा ही कहना चाहिए। इससे कामकला के ही अङ्ग बिन्दु हैं जो नाद के ही दूसरे और तीसरे स्वर के रूप में अभिव्यञ्जक अङ्ग वाले ही स्वर होंगे जो अङ्गाङ्गी भाव से विद्यमान हैं। इस अङ्गाङ्गी भाव का रूप ही चौबीस अक्षरों वाली गायत्री है। इस प्रकार वैदिक एवं लौकिक छन्दों की मूल प्रकृति में पञ्चदशत्व एवं षोड्षत्व की उपपत्ति का अर्थ उपयुक्त होता है। ये सारे अर्थ अङ्गाङ्गी भाव से अभेद के विचार में उनके प्रधान अक्षरों की गणना से संख्यापूर्ति की आवश्यकता से वस्तुस्थिति का कथन करते हैं। अस्तु, उनके अपवाद के लिए ही स्वर-व्यञ्जन के भेद से ऐसा कहा गया है। अत: मूल में अङ्गाङ्गी भेद नहीं किया जाना जाहिए। अपितु अभेद ही कहना चाहिए। अर्थात् अभेद में ही भेद मान्यता की समस्त शृंखलाएँ अपने गुण-धर्म का परिचय उसी से अनुप्राणित होकर दे रही हैं। अस्तु, भेद में उस अभेद का ही चिन्तन करना चाहिए, परन्तु अभेद में भेद का चिन्तन नहीं करना चाहिए। यही चिन्तन की सही शास्त्रीय परिपाटी है। 'ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्' (ब्रह्मसूत्र ४–१–५)।'

हादि विद्या में द्वितीय और तृतीय अक्षर का भी सव्यञ्जकत्व होने पर उसमें साठ (६०) अक्षर हैं। यदि अर्द्धचन्द्रादिकों के एक वर्ण मानें तो भी उसमें उन्तालीस (३९) वर्ण होंगे। बिन्दुओं के भी नाद में मिलने से एक वर्ण स्वीकार करने पर छत्तीस वर्ण होते हैं। जबकि वहां शक्त वर्ण चालीस (४०) हैं। वहां व्योम बीज षट: माया बीज तीन, तथा एक कारण बिन्दु, रेफ, चन्द्रबीज, भूबीज, क्रोधीश, बिन्दु और नाद त्रय तथा द्वादश श्रीकण्ठ इस प्रकार भी यह सैंतीस नहीं होते हैं। यद्यपि स्वर पन्द्रह हैं और व्यञ्जन अठारह हैं, बिन्दु तीन हैं तथा सारे वर्णों की समष्टि एक है। इस प्रकार ये सैंतीस हो जाते हैं। ऐसा ही कामकला विलास में कहा है–

'अज्व्यञ्जनबिन्दुत्रयसमष्टिभेदैर्विभाविताकारा।
षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मा तत्त्वातीता च केवला विद्या॥'

अर्थात् इस प्रकार वर्णित छत्तीस तत्त्वों वाला भाव जिसने आकार धारण कर रखा है वही विद्या है, तथा सैंतीसवां इनकी समष्टि रूपा ही तत्त्वातीत केवला विद्या हैं।

तथापि संख्या का स्वभाव पृथक्करण होने के कारण गणित का पुर्नगणन गौण ही है, जिसमें पञ्चदशी में षोडशीत्व का प्रतिपादन होता है तथा लोक सिद्ध अङ्ग और अङ्गी के अभेद का अपवाद करके भेद से कण्ठ रव की युक्ति से पन्द्रह वर्णों के अभेद की गणना से क्या प्रयोजन है, यह विचारणीय है। यद्यपि भेद पद का 'संभेदः सिन्धु-संगमः' इत्यादि से प्रसिद्ध स्वर-व्यञ्जन का सभी स्थानों में मिलन सुवाच्य यानी ठीक ही वर्णित है। तथापि भेद पद की वृत्ति क्लिष्टता में सम ऐसा उपसर्ग न होने से उस प्रकार के अर्थ का अवाचकत्व भी ठीक ही है, परन्तु जो ग्रन्थ के पूर्व भाग में योगिनी हृदय के 'व्याप्ता पञ्चदशार्णैः सा' से प्रतिपादित सामान्य पन्द्रह अक्षरों की संख्या का उपपादन है या प्रमाणीकरण है एवं 'पञ्चभिश्च' तथा 'षड्भि'इत्यादि से उसका विवेचन करके कथन है, जिसमें उसे स्वर व्यञ्जन भेदनी करके सैंतीसवीं कहा गया है। वह भी पूर्व ग्रन्थ में छत्तीस तत्त्वात्म का बताकर ही सिद्ध किया गया है। यह सभी विवाद रहित है। इसमें उक्त रीति से चालीस का भी प्रतिपादन होकर इसके उपक्रम और उपसंहार में कोई विरोध नही है। जैसा कि कथन है कि तीन बिन्दुओं के द्वारा रुद्र, ईश्वर, सदाशिव कहे जाते हैं तथा शांति, शक्ति और शम्भु ही तीनों नादों के बोधक हैं।'

इस प्रकार एक ही श्लोक में बिन्दु त्रय और नाद त्रय के वर्णन से बिन्दु त्रय सैंतीस संख्या पूर्ति के लिये उल्लेख होकर नादत्रय का त्याग स्पष्ट ही पक्षपातपूर्ण है। इस प्रकार कादि विद्या में सैंतीस की सिद्धि के लिए विद्या के दूसरे और तीसरे अक्षर में सन्धि अक्षर होने के कारण प्रत्येक में द्वयात्मकता होने से गणना की क्लिष्टता दूर कर दी गई है। अतः इस प्रकार नादत्रय के मेल से सैंतीसवी संख्या सिद्ध है योगिनी हृदय से यह स्पष्ट है जिसमें हृल्लेखा त्रय से पांच–पांच वर्णों की संख्या से यह स्पष्ट है। इस प्रकार योगिनी हृदय के सम्प्रदायार्थ प्रकरण में सब कादि विद्या की ही स्वर गणना बिना पक्षपात के की गई हैं। अब इसका निष्कर्ष कहते हैं–

उन–उन अक्षरों के वाच्य तथा लक्षार्थ उद्देश्य से ही ग्यारहवाँ स्वर 'एकार' तत्त्वातीत ब्रह्म के साथ अभेद का विधान करता है, एवं विद्या के अवयव रूप अक्षर समूह का वाच्यार्थ ही समुदाय रूप से उसकी विश्व और विद्या से अभिन्नता का विधान करता है। भावार्थ प्रकरण में जो शिव शक्ति का जन्यत्व बताया गया है वह भी शिव शक्ति के अभेद का विधायक होने से विद्या और जगत की ऐक्य बोधकता के प्रयोजन से है। अस्तु, यहाँ विद्या का उद्दश्य है कि विश्व के अन्तर्गत जो स्वाभाविक पदार्थ हैं उनके साथ वाचक अक्षरों से घटित ज्ञाप्य विश्व का अभेद है यह एक बात है। दूसरी बात यह है कि जो विश्व और विद्या के अभेद के उद्देश्य का विधेयक है उसी से (व्यवहार में) अन्य-अन्य की बोधकता का भेद स्पष्ट होता है। अर्थात् विद्या के स्वरूप ज्ञान से साधक का लोक जीवन सफल और समृद्ध होकर सुखकारी होता है तथा उसके तटस्थ लक्षणा से अनन्यतः उसका परलोक सिद्ध होता है ॥८०॥

संगति–अब उपरोक्त कथन का अभिप्राय कहते हैं––

जन्यजनकयोर्भेदाभावाद् वाच्यस्य वाचकेनापि ।
ब्रह्मणि जगतो जगति च विद्याभेदस्तु संप्रदायार्थः ॥८१॥

भावार्थ–जनक और जन्य अर्थात् कारण और कार्य अभिन्न हैं। तथा वाच्य वाचक भी अभिन्न हैं। ब्रह्म ही जगत है तथा जगत ही विद्या या ब्रह्म है। इनमें कोई भेद नहीं है, इसी का नाम विद्या का सम्प्रदायार्थ है।

टीका–ब्रह्म का जगत से अभेद है। इसे सम्यक् गुरु शिष्य परम्परा क्रम की मर्यादा से प्राप्त होने के कारण इसे सम्प्रदायार्थ कहा है।

संगति–अब निगर्भार्थ कहते हैं ––

परमशिवे निष्कलता तदभिन्नत्वं स्वदेशिकेन्द्रस्य ।
तत्करुणातः स्वस्मिन्नपि तदभेदो निगर्भार्थः ॥८२॥

भावार्थ– परमशिव निष्कल स्वरूप से अपने गुरु से अभिन्न है। उसी की करुणा से अपनी आत्मा और परमतत्त्व में अभिन्नता होती है। यही निगर्भार्थ अर्थात् अत्यन्त गूढ़ अर्थ है।

टीका-कामकला के स्वरूप निर्णय के अवसर पर यह निष्कर्ष बताया गया है कि जो ब्रह्म है वही परमशिव है। उसकी निष्कलता उससे इतर पदार्थ के अभाव के कारण है। क्योंकि उससे इतर सभी दु:ख का जनक है जैसा कि श्रुति वचन है-'द्वितीयाद्वै भयं भवति' अर्थात् दूसरा ही भय का जनक है। यही मन्त्र के प्रथम कूट का अर्थ है। ब्रह्म एवं स्वगुरु के श्रीचरणों में अभेद है। इसी (ब्रह्म और गुरु चरणों का अभेद) भावना की दृढ़ता से ही उसके साथ अभेद की सिद्धि होती है, यह मन्त्र के दूसरे कूट का अर्थ है। उसी की करुणा से अपनी दृढ भक्ति, सेवा के प्रसाद से गुरु की करुणा उदित होती है जो केवल अपने चित्रित निरीक्षण बल से ही साधक को अपने ब्रह्म भाव से अभेद सिद्ध करा देती है, यही तीसरे कूट का अर्थ है। अस्तु, जो अपने गुरु के द्वारा शिव के आन्तर-ज्ञान सम्पादन से गुरु, शिव और आत्मा की एकता होती है यही निगर्भार्थ या गूढार्थ पद से वाच्य है।

संगति-अब कौलिकार्थ बताते हैं। -पर देवता, विद्या, चक्रराज, गुरु और आत्मा इन पाँचों भावों की एकता जिसमें होती है, उसे कौलिकार्थ कहते हैं। सबका ब्रह्म से अभेद होने पर सजातीयत्व प्राप्त होता है। यह सजातीय समूह ही कुल पद का वाच्य है जैसा कि अमरकोष का वचन है-'सजातीयै: कुलं यूथम्'। उपरोक्त पाँचों नाम, रूप, भावों की अभिन्नता समान धर्मी रूप में साधन से ही इष्ट है। वह समान धर्म वाला है-

' गणेशग्रहनक्षत्रयोगिनीराशिरूपिणीम् ।
देवीं मन्त्रमयीं नौमि मातृकापीठरुपिणीम् ॥'

उक्त तंत्र राज में कहे हुए गणेशादि छ: भावों की आत्मा से एकता कही जाती है। उसी को पहले गणेश और परदेवता की एकता द्वारा प्रतिपादित करते हैं---

माता निरूपमतेजोमय्या: स्वस्या मरीचिरुपाणाम् ।
आवरणदेवतानामीशत्वादुच्यते गणेशीति ॥८३॥

भावार्थ-उपमारहित तजोमयी माता अपने मरीचि रूप आवरण देवताओं की स्वामिनी होने के कारण गणेशी कही गई है।

टीका–'न तत्र सूर्यो भाति' अर्थात् उसे सूर्य प्रकाशित नहीं कर सकता इत्यादि श्रुति वचनों से प्रतिपादित जो अत्यन्त उत्कृष्ट तेज रूप ब्रह्म है उसी की किरणों के रूप उसके आवरण देव हैं। उनकी संख्या एक सौ ग्यारह है। तन्त्रों में उनको अभेद रूप में प्रतिपादित किया गया है। उसी के समान ही देवतागण की स्वामिनी होने के कारण वह माता 'गणेशी' कही जाती है।

इच्छादित्रिसमष्टिर्गुणत्रयाढ्यानलेन्दुरविनेत्रा ।
एवं नवभिर्योगाद् ग्रहरूपेत्युच्यते माता ॥८४॥

भावार्थ–इच्छा, ज्ञान और क्रिया की समष्टि रूपा, तीन गुणों से युक्त माता है जिसके अग्नि, चन्द्र और सूर्य तीन नेत्र हैं। इसप्रकार उक्त नव रूपों में ज्ञात होने के कारण वह नव ग्रह रूपा कही जाती है।

टीका–इच्छा, ज्ञान और क्रिया की समष्टि शक्ति रूपा माता है। उक्त बात संकेत पद्धति में कहीं गई है– इच्छा उसका शिरो भाग है। उसके नीचे ज्ञान का भाग है तथा क्रिया उसके पादों का हिस्सा है। सगुण ब्रह्म को उसके अवयव रूप से गुण रूप में व्यवहार किया है। आदित्यादि जो नव ग्रह हैं वह उसी परम तत्त्व के नव अवयब मात्र हैं। अर्थात् वह प्रकृति रूप ग्रहण करके नव अवयव वाला कहा गया है। इन नव अवयवों को ही नक्षत्र रूप से जानना चाहिए।

इन्द्रियदशकेनान्तःकरणचतुष्केण विषयदशकेन ।
प्रकृतिपुरुषगुणतत्त्वैर्जाता नक्षत्ररूपिणी माता ॥८५॥

भावार्थ–माता ही नक्षत्र रूपिणी है। उसकी दश इन्द्रियाँ, चतुष्क अन्तःकरण तथा दश विषय, प्रकृति, पुरुष और गुण तत्त्व ये सत्ताइस नक्षत्रों के द्योतक हैं।

टीका– पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ-श्रोत्र, रसना, घ्राण, स्पर्श (त्वक्) तथा नेत्र है। पाँच कर्मेन्द्रियाँ-वाक्, हाथ, पैर, गुदा तथा उपस्थ हैं। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार रूप से चतुष्क अन्तःकरण हैं। तथा शब्दादि रूप एवं वचनादि रूप दश विषय हैं। प्रकृति तीन गुणों की साम्यावस्था रूप से तथा पुरुष सत्वादि गुणों की समष्टि का रूप है। सुख दुखादि के मोह का मूल ही गुणतत्त्व है। इसप्रकार सत्ताईस संख्या वाले नक्षत्रों के रूप वाली यह माता है।

नरपतिरविकाष्ठाषट् समुद्रद्विसंख्यै
रकऽबवहपूर्वैरक्षरैर्वे ष्टिताभिः ।
डरलकसहवर्णाद्याकिनीभिस्तु षड्भिर्घ टिततनुरितीयं
कथ्यते योगिनीति ॥८६॥

भावार्थ–उसको इसलिए योगिनी कहते हैं कि उसका शरीर छः योगिनियों से बना है जो ड, र, ल, क, स और ह वर्णों से बताई जाती है जो मातृका के अ, क, ड, व और ह अक्षरों से आरम्भ होती हैं। तथा सोलह, बारह, दश, छः, चार और दो वर्णों से युक्त हैं जिन्हें संकेत की गुप्त भाषा में नरपति, रवि, काष्ठा, षट्, समुद्र और दो संख्या के नामों से कहा है।

टीका- नरपति यानी राजा-सोलह, रवि-बारह, काष्ठा यानी दिशा-दश (दिशाएं आठ हैं जिनमें ऊपर नीचे की जोड़कर दश हो जाती हैं।), समुद्र-चार 'पयोधरीभूतचतुःसमुद्राम्' इत्यादि संख्यानुसार समुद्र से चार सिद्ध है। षोडश संख्या स्वरों की है, यह अकार से अः पर्यन्त सोलह स्वर अमृतादि देवताओं से उपलक्षित है। क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ यह बारह वर्ण कालरात्र्यादि देवियों से उपलक्षित हैं। ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ यह दश वर्ण डामर आदि शक्तियों के वाचक हैं। ब, भ, म, य, र, ल यह छः वर्ण बन्धिनी आदि के वाच्य हैं। ह और क्ष दो वर्ण हंसवती और क्षमावती रूपों के उपलक्षक हैं। ड, र, ल, क, स, ह यह छः वर्ण हाकिनी से डाकिनी पर्यन्त योगिनियों के सूचक है। इनमें अमृतादि से आवृत्त डाकिनी है तथा कालरात्र्यादि से आवृत्त राकिनी है। इसीप्रकार त्वक, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, लसिका के अधिपति रूप विशुद्ध, अनाहत, मणिपुर, स्वाधिष्ठान, मूलाधार, आज्ञा चक्रों तथा उन-उन की आवरण शक्तियाँ तथा उसी के समान उनके दलों में आवृत्त देवियों के साथ मध्य कर्णिका में यह डाकिनी, राकिनी, लाकिनी काकिनी, साकिनी और हाकिनी की स्थिति है। इसके शरीर रूप होने से इन्हें योगिनी कहा गया है। यद्यपि त्वक, असृक, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र रूप में धातुएं वैद्यों ने घण्टाघोष से सात बताई है।

उक्त छः योगिनियों की अधिपति रूपा याकिनी है जो सहस्रार पद्म में अमृतादि सकल समूह के साथ स्थित है। जैसा कि तन्त्रों में प्रसिद्ध है। षोढ़ान्यास में भी किन्हीं तन्त्रों में उसका न्यास देखा जाता है परन्तु योगिनी हृदय में छः का ही न्यास विधान है। अमृतादि शक्तियाँ उन्हीं के आवरण रूप में हैं। छः में ही समष्टि रूप से मातृका का विचार है, उसमें उक्त सातवीं का अभाव है, यानी उसे पृथक भाव से योगिनी रूप में नहीं लिया गया है। इसलिए योगिनी केवल छः है, जैसा कि एक वचन है--

विशुद्धौ हृदये नाभौ स्वाधिष्ठाने च मूलके।
आज्ञायां धातुनाथाश्च न्यस्तव्या डादिदेवताः।
अमृतादियुताः सम्यग् ध्यातव्याश्च सुरेश्वरि॥'

अर्थात् विशुद्ध, हृदय, नाभि, स्वाधिष्ठान तथा मूलाधार और आज्ञा; इन छः स्थानों में ही डाकिन्यादि देवियों को धातुओं की स्वामिनी रूप से न्यास किया जाता है। अमृतादि युक्त रूप में सुरेश्वरी का ध्यान करना चाहिए।

पञ्चभिर्नागकूर्माद्यैः प्राणापानादिपञ्चभिः।
जीवात्मपरमात्मभ्यां चैषा राशिस्वरूपिणी॥८७॥

भावार्थ–यह विद्या राशि रूपिणी है। क्योंकि यह पञ्चप्राण तथा पञ्चउपप्राण एवं जीवात्मा और परमात्मा रूप से बारह राशि रूप है। पञ्चप्राण–प्राण अपान, समान, उदान और व्यान हैं। पञ्चउपप्राण– नाग, कूर्म, कृकरल्, देवदत्त और धनञ्जय है।

टीका– उपरोक्त पदों में कृकर, देवदत्त और धनञ्जय तथा व्यान, उदान और समान को भी जोड़ लेना चाहिए। इस प्रकार यह बारह राशि रूपिणी जगतमाता है। पीठों और गणेशों की सख्या समान ही है अर्थात् पीठ इक्कावन (५१) हैं तथा गणेश भी इक्कावन (५१) ही हैं। इसका विचार आजाने पर उनकी तादात्म्यता होने के कारण उनका वर्णन पृथक से नहीं किया गया है।

संगति–अब विद्या को गणेशादि रूप में प्रतिपादित करते हैं–

अकथादिकषोडशाक्षरात्मकत्तार्तीयककामवाग्भवैः।
घटिता च परादिवाग्गणैरिति विद्यापि गणेशरूपिणी॥८८॥

भावार्थ– अकथादि षोडशाक्षर रूप तीसरी शक्ति ही कामराज, वाग्भवादि कूटों में घटित होकर परादेवी का यह 'गण' रूपा विद्या को गणेश रूपिणी कहा जाता है। अर्थात् यह वर्णों की गण (कूट) स्वरूप होने से गणेश रूपिणी है।

टीका–तीसरा शक्ति कूट अकारादि सोलह स्वरात्मक है। ककार से थकार वर्ण पर्यन्त दूसरा कामराज कूट है, तथा थकार से क्षकार पर्यन्त पहला वाग्भव कूट है। एवं परा से वाच्य वाक् रूप ही व्यष्टि और समष्टि भेद से चौथा रूप है। अतः शब्द के 'गण' रूप में स्थित यह श्रीविद्या ही गणेश रूपा है।

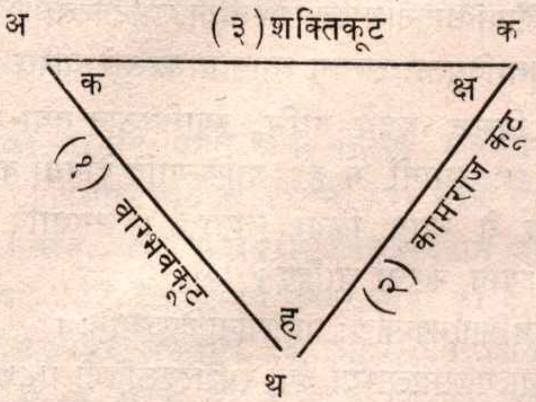

बिन्दुत्रयनादत्रयतदन्यकूटत्रयैर्ग्रहत्वमिह।
नक्षत्रत्वं च दशाकाराणां व्यञ्जनैरपार्थक्यात् ॥८९॥

भावार्थ– तीन बिन्दु, तीन नाद एवं तीनों कूटों के द्वारा घटित होने के कारण ग्रह रूपिणी यह विद्या है तथा इसी प्रकार उसके दश अकारों से अभिन्न सत्ताइस व्यञ्जन होने से वह नक्षत्र रूपा भी है।

टीका–बिन्दु नाद रहित एक कूट तथा एक बिन्दु और एक नाद यह तीन हुए। इन तीन भावों के प्रत्येक कूट के तीन-तीन बीज, बिन्दु और ध्वनि मिलकर ग्रहों के रूप हैं। बिन्दु और ध्वनि में द्वन्द समास है तथा उनके बिन्दु बीज और ध्वनि में तत्पुरुष समास है। इस प्रकार इन बीज, बिन्दु और ध्वनि पदों की संख्या छः हो जाती है। यह छः- छः तीनों कूटों के हैं। इनके अतिरिक्त तीनों के मिलने से छः और हो जाते हैं। यह इनके सम्बन्धित अर्थ हैं। इन दोनों छः-- छः के मिलने से कूटों की गणना से विद्या का ग्रहात्मक रूप हो जाता है।

ये बीज पद में हकार, रेफ और एकार समूह मात्र है। यही बिन्दु में ध्वनि मात्र तीनों पद द्वन्द रूप व्याख्यात् हैं तथा बीज मात्र अवस्था में ग्रहत्व का प्रतिपादन या राशीत्व का भाव नहीं है। सम्पूर्ण विद्या में ये गणेश नक्षत्रादि उसकी प्रकृति के एक देश में गृहीत होने के कारण सम्पूर्णता में वैरूप्य होता है, परन्तु बिन्दु के बिना बीजत्व का अभाव है, क्योंकि बीज पद बिन्दु के बिना स्थित नहीं है। इसलिए न्यास में बिन्दु सहित बीजों का न्यास होता है और यही शुद्ध न्यास है।

सम्प्रदायार्थ में सैंतीस वर्णों का कथन हुआ है। उनमें दश अकार अपने-अपने व्यञ्जनों के साथ ही गिने जाने के कारण दश संख्या का बाद होकर केवल सत्ताइस ही ध्वनिमात्र शेष रहते हैं। यही उसके नक्षत्रात्मक भाव को सिद्ध करते हैं। इस प्रकार विद्या को नक्षत्ररूपिणी कहा जाता है। कथन है–

'हल्लेखात्रयसंभूतैस्तिथिसंख्यैस्तथाक्षरैः।
अन्यैर्द्वादशभिर्वर्णैरेषा नक्षत्ररूपिणी ॥'

अर्थात् हृल्लेखा से उत्पन्न पन्द्रह अक्षर रूपा यह विद्या अन्य बारह वर्णों से मिलकर नक्षत्र रूपिणी हो जाती है।

हल्लेखाभिस्तिसृभिस्तदन्यकूटैश्च योगिनी योगात्।
राशीभृताप्येषा तिसृणां पूर्वाक्षरैरैक्यात् ॥९०॥

भावार्थ-तीन हृल्लेखा तथा उसके अन्य तीन कूट मिलकर योगिनी रूप से उसे बताते हैं तथा हृल्लेखा के तीन तीन वर्णों के साथ उनके पूर्व जो तीन लकार हैं उनको मिलाने से वह राशि रूप हो जाती है।

टीका-तीन हृल्लेखा एवं उनसे पृथक तीनों कूट मिलकर दोनों की संख्या छः हो जाने से विद्या की योगिनी रूपता होती है। तथा तीनों हृल्लेखाएँ अपने पूर्व वर्ण लकार के साथ गणना करने पर बारह संख्यक अवयव रूप उसकी राशि रूपता का भाव है। जैसा कहा है–

'विद्यान्तर्भूतशक्त्याद्यैः शाक्तैः षड्भिरथाक्षरैः।
योगिनीत्वं च विद्याया राशित्वं चान्त्यवर्जितैः ॥'

अर्थात् विद्या में जो आद्य शक्ति के अक्षरों के छः रूप हैं वही उसका योगिनी रूप है एवं विद्या की राशि रूपता भी उसमें अन्य रूप में है। अर्थात् विद्या के अन्तर्भूत जो शक्ति के आद्य भाग चार, पाँच और तीन अक्षरों के तीन समूहों के रूप हैं, वही शक्ति के रूप हैं। इन तीनों शक्तियों के साथ तीन हृल्लेखाओं को मिलाने से संख्या छः हो जाती है, जो उसका योगिनी रूप है। किसी के कथनानुसार शाक्तपद से तीन लकारों को समझना चाहिए। यही शक्ति के विशेषण हैं। अस्तु, शक्ति के समूह बताने के लिए उनकी पूर्ति करके संख्या छः हो गई है तथा इसी प्रकार तीन लकारों से तीन लज्जा बीज मिलने पर भी संख्या छः ही होती है। उनके मत से विद्या का यही योगिनी रूप है। जैसा कहा है- 'योगिनीत्वं च विद्यायाः'। इस विचार में स्वारस्य भङ्ग होता है। एवं विद्या के एक देश से विद्या पद की लक्षणा की भी आपत्ति है। यह विचारणीय है कि शक्ति के आद्य तीन लकार हैं एवं तीन सकार भी शक्ति के स्पष्ट रूप हैं। हादि पक्ष में इसका स्वारस्य अवश्य है परन्तु शक्ति पद में लकार को किस अर्थ से लिया एवं गया है और किस प्रकार उसकी व्याख्या की गई है, यह एक पक्षपात का विषय है। अर्थात् उपरोक्त तीन लकारों को जोड़ना ही इसका भाव है, क्योंकि 'अन्त्यवर्जितैः' रूप उक्त वचनानुसार माया बीजों की पृथक से गणना वर्जनीय है। अस्तु, जैसा जिसने सुना है वही उसका विचार है। इससे विद्या का स्वारस्य विभक्त ही है। अस्तु, इसी से विद्या की राशि रूपता का भाव उसके एक भाग में नक्षत्रों के साथ जानकर नक्षत्रों के साथ ही पूर्ण विद्या की राशि रूपता सिद्ध है। जिसमें एक देश भी उसके साथ अन्त में वर्णित ही रहता है॥

संगति–अस्तु, गणेशादि षट्क का विद्या से देव रूप साधकर स्थित होने पर अब विद्या और देवी के अन्तररूप भाव को वचनों के बल से सिद्ध करने के लिए राम कृष्णादि के समान उससे अभेद सिद्ध होने के हेतु उनका षट्कत्व साधते हैं—

देव्या रूपान्तरत्त्वेन विद्यायास्तदभेदतः।
गणेशग्रहनक्षत्रयोगिनीराशिपीठता ॥९१॥

संगति–अब चक्रराज में गणेशादि की स्थिति बताते हैं–

रेखादलकोणगणैर्घटनाच्चक्रे गणेशत्वम् ।
त्रैलोक्यमोहनाद्यैर्नवभिश्चक्रैर्ग्रहत्वं च ॥९२॥

भावार्थ–देव ही अन्तरभाव से विद्या के साथ अभिन्न होकर स्थित हैं। इसलिए गणेश, ग्रह, नक्षत्र, योगिनी, राशि और पीठ की विद्या से पूर्ण अभिन्नता है। ९१॥

रेखाओं, दलों एवं कोणों के गणों द्वारा घटित चक्र के कारण उसका गणेशत्व है, तथा त्रैलोक्यमोहन से लेकर बिन्दु पर्यन्त नव चक्र रूप में निर्मित होने के कारण उसका ग्रहत्व स्पष्ट है ॥९२॥

टीका–चतुरस्र की तीन वर्तुलाकार रेखाएँ, उनके चौबीस दल तथा पैंतालिस कोण त्रैलोक्य मोहन से आनन्दमय चक्र तक तीन रेखाओं से अ, क, थ रूप त्रिकोण के मध्य स्थित उसका गणेशत्व है। चक्र के एक देश में उसका होना उसके वैरूप्य का सूचक है।

वृत्तत्रयधरणीत्रयमन्वश्राणां विभज्य गणनेन ।
सप्तभिरितरैश्चक्रैश्चक्रे नक्षत्ररूपत्वम् ॥९३॥

भावार्थ-तीन चक्र, तीन धरणी वृत्त तथा चौदह मन्वश्र को मिलाकर गणना करने से संख्या बीस हो जाती है। इनमें अन्य सात चक्र जो पृथक गणना से आते हैं, को जोड़ने से सत्ताईस नक्षत्र रूपा विद्या का स्वरूप बन जाता है ॥९३॥

टीका–दोनों पद्मों की दो कर्णिकाएँ तथा एक बाहर का वृत्त मिलकर तीन (३) हो जाते हैं। धरणी तीन की भू रेखाएँ तथा मन्वश्र के चौदह कोण, इनके अतिरिक्त त्रैलोक्यमोहन, सर्वसौभाग्य-दायक के सात (७) कोण मिलकर सत्ताईस हो जाते हैं। तीन वृत्त मन्वश्र तथा वहिर्दशार मिलकर भी सत्ताईस किसी के मत से समझना चाहिए।

स्थितिसंहृतिचक्रे द्वे पद्मे द्वे वृत्तभूगृहे च द्वे ।
एवं षड्भिर्योगाच्छ्रीचक्रं योगिनीरूपम् ॥९४॥

भावार्थ–बिन्दु, त्रिकोण व सुकोण ही संहारचक्र है। दोनों दशार तथा चतुर्दशार मिलकर स्थिति चक्र है। शेष सृष्टि चक्र हैं।

इस प्रकार यह चक्र संकेत स्पष्ट है। वसुदल और षोड्शदल दो पद्म हैं। एक वृत्त है एवं भूग्रह के साथ मिलकर दो हुए। अष्टकोण सहित योगिनी के चौंसठ रूप कहे गए हैं। इन्हीं योगिनियों का स्वरूप यह श्रीचक्र है।

पञ्चचतुःशक्त्यनला बिन्दुर्वृत्तं च भूबिम्बम् ।
एवं द्वादशसंख्यैर्घटनाच्चक्रस्य राशित्वम् ॥९५॥

भावार्थ—पाँच शक्तियाँ, चार अग्नि बीज, एक बिन्दु, एक वृत्त तथा एक भूगर्भ मिलकर बारह चक्र रूपा यह राशि रूप श्रीविद्या है ॥९५॥

टीका - स्वाभिमुख पाँच शक्ति के त्रिकोण तथा उनके विपरीत मुख चार अग्नि त्रिकोण या शिव त्रिकोण हैं। इन्हीं पाँच शक्ति और चार अग्नि कोणों के संयोग से श्रीचक्र बनता है। इसी में दो पद्मों की स्थिति है। ये दो पद्म भूग्रहादि रूप नवत्रिकोण तथा नव त्रिकोणमय चक्र एक मध्य बिन्दु रूप मिलकर बारह राशि रूप यह श्रीचक्र है।

संगति—चक्र की विद्या के अक्षर रूप से उत्पत्ति तथा उसके साथ विद्या का अभेद सिद्ध होने के कारण उसके साथ उक्त छः रूपों को दृढ़ करते हैं।——

चक्रं विद्याक्षरैरेव जननात् तदभेदवत् ।
देव्या रूपान्तरत्वाच्च तेन युक्तोक्तरूपता ॥९६॥

भावार्थ—विद्या के अक्षरों द्वारा चक्र का जन्म होने के कारण विद्या उससे अभिन्न है। यह उसी के अन्दर स्थित होने के कारण उस विद्या की युक्त रूपता बताते हैं ॥९६॥

टीका—यद्यपि मूल तन्त्र में विद्या और चक्र का अभेद है, क्योंकि यह उसी के अक्षरों का प्रगट रूप है। इसी के साथ पुनः उसके उक्त छः रूपों का ज्ञापक बताया है। तथापि इस विश्व प्रथा का आकार ही चक्र रूप यह महेश्वरी है। इसके कहने से उसकी षट्रूपता सूचित होती है। यही सम्प्रदाय का रूप है।

संगति—इन गणेशादि पाँचों के मिलने से इसके पचपन (५५) रूप हो जाते हैं परन्तु रेखादल कोणों की गणना से ये इकावन (५१) ही हैं। अस्तु, इनको एक गणेश के व्यवहार से पीठ रूप में

यहाँ कहा गया है। यद्यपि कामरूपादि पीठ इकावन (५१) ही हैं। तथापि 'ओजापूका' चार प्रधान पीठों को जोड़ देने से यह संख्या पचपन (५५) हो जाती है। यही पाँचों समष्टि देव पीठ रूप से सिद्ध हैं। इसी आशय से तन्त्र में इनकी पृथक से पीठ रूप में गणना नहीं है। यही बात कही जा रही है।–

यावन्मातृकमुदितान्यैकसमेतानि पञ्चाशत्।
पीठानि पुनर्गणितान्योजापूकानि चत्वारि ॥९७॥
गणपग्रहभादीनां शशिनिधितारर्तुसूर्य संख्यानाम्।
मेलनतः पीठानि ज्ञेयान्येतेपु पञ्चपञ्चाशत् ॥९८॥

भावार्थ–मातृका के वर्णों की संख्या इकावन (५१) है। इसलिए इन पीठों की संख्या इकावन (५१) है, परन्तु पुनः ओड्डियान, जालन्धर, पूर्णगिरी और कामरूप चार प्रधान पीठ और जोड़कर इनकी संख्या पचपन (५५) हो जाती है। यह गण तथा ग्रहादि संख्या निम्न प्रकार है– शशि की एक, निधि की नव, तारा की सत्ताइस, ऋतु की छः और सूर्य की बारह। यह सब मिलकर पचपन हो जाती है ॥९७॥, ॥९८॥

टीका-जहां तक मातृका है, अव्ययी भाव की स्थिति है, यानी जितने मातृका वर्ण हैं, पीठ संख्या उतनी ही है। अस्तु, इसमें ओड्डियान, जालन्धर, पूर्णगिरी और कामरूप चार और बढ़कर पचपन (५५) हो जाती है। नाम के एक देश से भी नाम का ग्रहण हुआ है। इसलिए सम्प्रदाय के अनुसार प्रत्यक्ष रूप से नक्षत्र योगिनी और राशि इस प्रकार जानना चाहिए– चन्द्रमा-एक, निधि–नव, तारा–सत्ताईस। तथा 'अङ्कानां वामतो गति' के अनुसार सकार सात संख्या का संकेत है, रेफ दो संख्या का संकेत है। इसी के अनुरूप उक्त संख्याओं की सिद्धि की गई है। इसी बात को बररुचि परिभाषा में निम्नप्रकार कहा है ––

'पादयः पञ्च याद्यष्ट कादयष्टादयो नव।
एतद्भिन्नाक्षरं बिन्दुः संख्या तन्मेलनोद्भवा ॥'

अर्थात् ऋतु-छः, सूर्य-बारह, यह सब संख्या मिलकर पचपन हो जाती है।

संगति–अब दो श्लोकों द्वारा चक्रराज का विद्या के अक्षरों से जन्यत्व प्रतिपादित करते हैं–

कत्रितयादीकाराद्बिन्दुर्जातस्तदग्रिमे चक्रे ।
हल्लेखाभिस्तत्परचक्रत्रितयं हकाराभ्याम् ॥९९॥
एकारेण च तत्परचक्रे जाते सकाराभ्याम् ।
चतुरश्राणि लकारैरेव विद्याक्षरेण चक्रजनिः ॥१००॥

भावार्थ– बिन्दु की उत्पत्ति तीन ककार एवं ईकार से हुई है। तदनन्तर दो चक्र सर्वसिद्धिप्रद एवं सर्वरोगहर का हृल्लेखाओं से जन्य हैं। तदनन्तर तीन चक्र-सर्वरक्षाकर, सर्वार्थसाधक और सर्वसौभाग्यदायक का क्रमशः दो हकारों एवं एकार से जन्य है। इसके आगे दो चक्र–सर्वसंक्षोभण एवं सर्वाशापरिपूरक का दो सकारों से जन्य है। तथा चतुरस्र त्रैलोक्य मोहन चक्र लकारों से उत्पन्न है ॥९९॥, ॥१००॥

टीका-इच्छा, ज्ञान और क्रिया तीन ककारों से युक्त हैं और देवी का महाबिन्दुमय आसन सदाशिव हैं। अर्थात् इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्ति के रूप जो ईकार से निकलते हैं वह तीन ककार रूप हैं। तथा ये चेतनायुक्त महाबिन्दुमय सदाशिव के आसन से उदय होते हैं। अस्तु, ब्रह्मा विष्णु, रुद्र और ईश्वर जिसके चारपाद हैं एवं सदाशिव जिसका आसन है, ऐसे इस चक्र को सर्वानन्दमय चक्र जानना चाहिए। अथवा, इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप तीन ककारों का भाव द्वन्द रूप है। त्रय शब्द से ईकार को तीन बिन्दुवाला ग्रहण करना चाहिए। आगे सर्वसिद्धिप्रद, सर्वरोगहर कहे जाने वाले दो चक्र मिलकर नव योनि-रूप हैं जो हृल्लेखाओं से उदित हैं।

'हृल्लेखात्रयसंभूतैस्तिथिसंख्यैस्तथाक्षरैः ।
बिन्दुत्रययुतैर्जातं नवयोन्यात्मकं प्रिये ॥'

इस वचन के अनुसार उक्त वर्णन है। इसके आगे सर्वरक्षाकर सर्वार्थ साधक एवं सर्वसौभाग्यदायक, ये तीन स्थिति चक्र हैं। जो अनलात्मक तीन शक्तिचक्र दो हकार तथा एकार से उत्पन्न हैं। जैसा कहा है। " मण्डलत्रययुक्तं तु चक्र शक्त्यनलात्मकम् ।
व्योमबीजत्रयेणैव . . . ." ॥

अर्थात् दोनों दशार तथा मन्वश्र, तीनों मण्डल दो हकार और एकार के रूप हैं। इसके आगे सर्वसंक्षोभण सर्वाशापरिपूरक दोनों शक्तिवाचक दो सकारों के रूप हैं। यह जन्य और जनक दोनों समान संख्या वाले हैं। यह युक्तिसंगत है। अतएव ऊपर श्लोक में जो तीन हृल्लेखाओं से युक्त तीन बिन्दु युत उनका विशेषण है, वह सार्थक है। क्योंकि पन्द्रह अक्षरों में एकार से बिन्दु नाद त्रय के प्रति हृल्लेखा में हकार रेफ और ईकार के मिलने से यह तीन होते हैं। अस्तु इस त्रिक से नवाक्षर समूह नवयोन्यात्मक दो चक्र उत्पन्न हुए तथा चतुश्र एक त्रैलोक्यमोहन चक्र लकारों से उत्पन्न हुआ।

एतत्त्रितयाभिन्नः स्वगुरुस्तदभेदभावनादाढर्यात् ।
तेन गणेशादिमयस्तद्दयया च स्वयं तथारूपः ॥ १०१ ॥

भावार्थ :– इन तीनों अर्थात् देवता, विद्या और चक्र के साथ स्वगुरु भी अभिन्न हैं, ऐसी भावना करने से तथा गणेशादि छः रूप श्री गुरु ही हैं उनके प्रसाद से स्वयं साधक भी तद्रूप हो जाता है ॥१०१॥

टीका–देवता, चक्र और विद्या तीनों षड्गणेशादि रूप (गणेश, ग्रह, नक्षत्र, योगिनी, राशि, पीठ) श्रीगुरु के साथ अभिन्न हैं। उनके ही प्रसाद से स्वयं साधक भी तद्रूप हो जाता है। जैसा कहा है–

'देव्या देहो यथा प्रोक्तो गुरुदेहस्तथैव च ।
तत्प्रसादाच्च शिष्योऽपि तद्रूपः सन् प्रकाशते ॥'

अर्थात् देवता के देह को गुरू रूप ही जानना चाहिए। उन्हीं के प्रसाद से शिष्य भी तद्रूप होकर प्रकाशित होता है। इसका तात्पर्य है कि देवी के देह में जो-जो अवयव हैं वे सब गुरु रूप ही हैं।

संगति–अब सभी का अनुसंधान करके इसका उपसंहार कहते हैं ––

ऊपर के वर्णन में गणेश, ग्रह, नक्षत्र, योगिनी और राशि पाँचों को देवी के साथ अभेद रूप में प्रतिपादित किया है। किन्तु प्रश्न है कि इन पाँचों का अभेद प्रतिपादन कैसे सम्भव है जबकि इनका प्रथम गणपति का गण' पद ही समुदायार्थक है। इसप्रकार समुदाय की

अपेक्षा से उनके नामों के अक्षर भिन्न-भिन्न रेखाओं वाले होंगे ही, तभी तो उनका रूप वर्णन होगा। इससे उनमें परस्पर भेद रहना स्वाभाविक है, क्योंकि जैसे नक्षत्र एक संख्या का वाचक है। इसीप्रकार अन्य भी अपने वाच्य अर्थों में स्थित हैं, और भिन्न-भिन्न अधिकरण वाले भाव हैं। इससे उनमें भेद होना तो स्वाभाविक है। ऐसी अवस्था में उनकी एक देवी में व्यापक ज्ञापक भाव से अभिन्न रूप में कल्पना कैसे सम्भव है? यह विचार अवश्य ही उचित है, परन्तु इस ज्ञापक भाव का व्यापक आधार में उनका समुदाय रूप से होना अपने-अपने भिन्न-भिन्न अधिकरणों के साथ ऐसा है, जैसा कि उपनिषद में एक देशीय चन्द्रमा को व्यापक रूप से कहा गया है। इसी प्रकार सारे भिन्न-भिन्न भाव अपने स्वयं के एक ही केन्द्र पर भिन्न-भिन्न नामों से स्थित भावों के समान अभिन्न ही हैं। उनकी व्यक्तिगत भिन्नता अपने स्वयं के अन्दर न होने के कारण भेद कल्पना सिद्ध नहीं हो सकती है तथा उनके भिन्न-भिन्न नाम उनकी एकता में बाधक नहीं हैं। जैसे एक ही ईश्वर में आकाश, काल आदि की कल्पना होती है। यही बात न्याय ग्रन्थ ने मानी है तथा अनुमान से भी यह बात सिद्ध है कि एक पदार्थ के अनेक नाम उसके गुण मात्र के पृथक पृथक बोधक होते हुए भी मूल में वह पदार्थ सत्ता रूप से एक ही हैं। इसी प्रकार घट-पटादि की भिन्नता उनके नामों के कारण ही होती है जिसके अनुसार वर्णन की भी सुविधा रहती है। वस्तुतः मूल में तो सभी का आधार एक ही है और उसी एक से यह सब अनुप्राणित हैं। इस-प्रकार से हमने ऊपर एकता का प्रतिपादन किया है। यहां इस विश्व में एक ही तत्त्व अनेक नाम गुणानुभेद को धारण करके समस्त नाम ओर गुणों को पीकर बैठा है। अर्थात् सारे नाम रूप गुणादि का आधारभूत भाव एकमात्र देवी ही है। वह पराविद्या तत्त्व अपने व्यापक ज्ञापक भाव से ही विश्व के समस्त विरुद्ध अधिकरणों में व्याप्त धर्मों को अपने व्यापक ज्ञापक भाव से गृहीत करके सब के साथ अभिन्न रूप से विराजमान है तथा सबकी संचालिका भी है। इसीप्रकार गणेशादि पञ्च भावों की अभिन्नता उसके साथ है जिन्हें वह पीकर अनन्त विकल्पों के साथ बैठी है। इसी का अनुसंधान करके इसका उपसंहार करते हैं--

इत्थं माता विद्या चक्रं स्वगुरुः स्वयं चेति ।
पञ्चानामपि भेदाभावो मन्त्रस्य कौलिकार्थोऽयम् ॥१०२॥

भावार्थ–इसप्रकार माता, विद्या, चक्र, स्वगुरु तथा स्वयं इन पांचों में अभेद भाव से चिन्तन ही कौलिकार्थ है ॥१०२॥

संगति–अब क्रमानुसार विचार के सर्वरहस्यार्थ कहते हैं–

द्वादशषोडशदशभिस्तपनशशिदहनकलाभिराकीर्णैः ।
पञ्चाशद्भिर्वर्णैरभिन्नदेहा कुलीनकुण्डलिनी ॥१०३॥

बिसतन्वी तडिदाभा मूलाधाररथपद्मशृङ्गाटात् ।
भित्त्वा मूलहृदाज्ञागतवह्निरवीन्दुमण्डलत्रितयम् ॥१०४॥

भावार्थ-बारह सूर्य कलाओं (तापिनी आदि) सोलह चन्द्र कलाओं (अमृतादि) एवं दश अग्नि कलाओं (धूम्रराचि आदि) के किरणों के स्वरूप पचास वर्णों के साथ अभिन्न देह रूपा कुल कुण्डलिनी है। यह कमल रेशे के समान विद्युत आभा वाली मूलाधार में स्थित त्रिकोणाकार पद्म से ऊपर चढती हुई मूलाधार से हृदयादि को भेदन करती हुई आज्ञा चक्र तक अग्नि, सूर्य और चन्द्र रूप तीनों मण्डलों को भेदकर पहुँचती है ॥१०३॥, ॥१०४॥

टीका–सूर्य की तापिनी आदि बारह कलाएँ हैं। अनुलोम से यह ककार से बारह वर्णों तक एवं प्रतिलोम से मकार से चौबीस व्यञ्जनों की दो-दो मिलकर बारह होती है। चन्द्र की सोलह कलाएँ स्वरों से युक्त है। अग्नि की दश कलाएं यकार से क्षकार वर्ण पर्यन्त धूम्रार्चि आदि हैं। इसप्रकार पचास अक्षरों से अभिन्न कुलकुण्डलिनी कमल नाल के समान विद्युत आभा युक्त है। यह मूलाधार की कमल कर्णिका में श्रङ्गाटक त्रिकोण पर साढेतीन घेरे डालकर अधोमुखी होकर स्थित है। इसे योग मर्यादा से योग द्वारा ऊपर मुख करके उठाना चाहिए। तब यह मूलाधार से अनाहत, आज्ञा चक्र तक विद्यमान होकर अग्नि, सूर्य और चन्द्र मण्डलों का भेदन कर जाती है॥

व्योमनि चिच्छशिमण्डलमध्ये त्वकुलेन संगम्य ।
उभयाङ्गसङ्गजन्यं प्रवाहयन्ती सुधापूरम् ॥१०५॥

स्वयमपि तत्पानवशान्मत्ता भूत्वा पुनश्च तेनैव ।
मार्गेण परावृत्य स्वस्मिन् स्थाने सुखं स्वपिति ॥१०६॥

भावार्थ– व्योम में शशिमण्डल के मध्य अकुल से कुण्डलिनी शक्ति संगम को प्राप्त होती है। इन दोनों के मिलन से सुधा-धारा प्रवाहित होती है। इस सुधा-धारा से कुण्डलिनी प्लावित हो जाती है। अमृतपानवश मत्त होकर कुण्डलिनी उसी मार्ग से लौटकर अपने स्थान पर आकर सुख से सो जाती है ॥१०६॥

टीका–'द्वादशान्तं ललाटोर्ध्वं कपालोर्ध्वावसानकम् ।
द्वयङ्गुलोर्ध्वं शिरोदेशं परं व्योम प्रकीर्तितम् ॥'

अर्थात् द्वादशान्त जो ललाट के ऊर्ध्व में कपाल के अवसान पर जो दो अङ्गुल का शिर स्थान है, उसे ही परमव्योम कहते हैं। अस्तु, इस लक्षणवाले आकाश में जो चिद्रूप शशिमण्डल है उसके सहस्रार कर्णिका रूप के मध्य अकुल कुण्डलिनी का वास है उससे कुण्डलिनी का संगम होता है। इस सङ्गम से वह अमृत-पूरित होकर डाकिन्यादि मण्डलों को प्लावित करती हुई पुनः प्रवाहित होती है तथा स्वयं भी उस पान से मत्त होकर उसी सुषुम्ना मार्ग से लौटकर अपने स्थान में आकर सुख से सो जाती है। यह सब योगियों द्वारा अनुभवगम्य विषय है। योगशास्त्र मर्यादा ज्ञान मात्र ही है, इसका परोक्ष ज्ञान तो गुरुमुख से ही विधिवत् जाना जाता है। इसलिए आगे विवेचन नहीं करते हैं ॥

साक्षाद्विद्यैवैषा न ततो भिन्ना जगन्माता ।
अस्याः स्वाभिन्नत्वं श्रीविद्याया रहस्यार्थः ॥१०७॥

भावार्थ–यह साक्षात् कुण्डलिनी ही विद्या है। इससे जगन्माता अभिन्न ही है। अतः इसके साथ साधक का अभिन्नत्व ही श्रीविद्या का रहस्यार्थ है ॥१०७॥

संगति–अब महातत्त्वार्थ कहते हैं––

वागिन्द्रियैरगम्ये तत्त्वातीते महत्तरेऽणुतरे ।
व्योम्नोऽप्युपरि स्थितिमति विश्वाभिन्ने चिदानन्दे ॥१०८॥
ब्रह्मणि परे नियोज्यः स्वात्मा तदभेदसंप्राप्त्यै ।
एष महातत्त्वार्थः श्रीविद्यायाः शिवेनोक्तः ॥१०९॥

भावार्थ–मन, वचन और इन्द्रियों से जो अगम्य, तत्त्वातीत, महत्तर, अनुत्तर भाव है अर्थात् महान से भी महान और अणु से भी अणु रूप जो मन, वचन, इन्द्रियादि से अगम्य आकाश से परे जो भाव है वही चिदानन्द रूप में विश्व से अभिन्न हुआ विद्यमान है। उस परब्रह्म से अपनी आत्मा का अभेद रूप से नियोजन प्राप्त करना चाहिए। अर्थात् उसके साथ अभिन्नत्व की अनुभूति करनी चाहिए। यही शिवजी के द्वारा कहा गया श्रीविद्या का महातत्त्वार्थ है ॥१०८॥, ॥१०९॥

टीका–श्रुति वचन–'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' तथा 'अशब्दमस्पर्शमरूपम्' इत्यादि के अनुसार जो वाणी से परे तथा घ्राणादि इन्द्रियों से परे, प्रत्यक्ष विषय की विधि से परे, सर्वथा ज्ञान का अविषय है तथा तत्त्वातीत शिव से पृथ्वी पर्यन्त छत्तीस तत्त्वों का अतिक्रमण करके स्थित है, महान से भी महान एवं अणु से भी अणुतर आकाशादि का जनक है तथा जिसे इस उपचार से कहा गया है वह स्थूल दृष्टियों का विषय नहीं है, अर्थात् इसकी कोई सीमा नहीं है। इसीलिए श्रुति उसे उपरोक्त विरोधी वचनों से वर्णन करती है। व्योम से ऊपर का कथन उपासना की दृष्टि से है। यानी एक कल्पित स्थान का विशेषण देकर उसे उपलक्षण से कहा है। यह तत्त्व विश्व से अभिन्न परिणाम स्वरूप है, स्वप्रकाश चिद्रूप है, आनन्दरूप है। अतः उस परब्रह्म में अपनी आत्मा का नियोजन करके उससे अभेद होकर अपने अज्ञान को मिटाकर उससे एक होना ही सकल तत्त्व मूलभूत रूप महातत्त्वार्थ कहलाता है। जैसा श्रुतिवचन है–'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' ॥

संगति–अब नामार्थ तथा शब्द रूपार्थ कहते हैं––

तत्तद्वर्णार्थेयं तत्तद्वर्णस्वरूपेयम् ।
इति तु श्रीविद्याया नामार्थः शब्दरूपार्थः ॥११०॥

भावार्थ– मन्त्र के उन-उन वर्णों के अर्थ रूप में जो उन-उन वर्णों का स्वरूप है वही श्रीविद्या का नामार्थ एवं शब्द रूपार्थ है ॥११०॥

टीका–'तत्तद्वर्ण' शब्द से ककारादि अठावन वर्ण, सैंतीस वर्ण एवं पन्द्रह वर्ण सभी को ग्रहण करना चाहिए। ये सब ब्रह्म के ही

वाचक है। जैसा कि 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' इत्यादि वचनों से कहा जाता है। इसका अन्वय समानाधिकरण के द्वारा सिद्ध है। इसीप्रकार नामार्थ तीन प्रकार का है। उसे अठावन नाम वाला, सैंतीस नाम वाला, एवं पन्द्रह नाम वाला कहते है। इन तीनों पक्षों में ही ककारादि नाम अन्य की तरह ब्रह्म वाचक ही हैं। इसीप्रकार समस्त अक्षरों को उसी के वाचक समझना चाहिये चाहे वे रूढि से हों या प्रत्यक्ष हों।

अथर्वर्ण के गौपथ ब्राह्मण मे 'ओंकार पृच्छामः को धातुः किं प्रातिपदिकं किं नामाख्यातम्' इस प्रकार के प्रयोग हैं। तथापि 'सत्वप्रधानानि नामानि' इस यास्क वचनानुसार नाम का प्रतिपादन किया जा सकता है। निश्चय ही ककारादि स्वरूप होने के कारण वही उसका नाम है। क्योंकि वह शब्द से अभिन्न है परन्तु शब्द और अर्थ का भेद पक्ष उपस्थित होने पर कहा जाता है कि यदि ऐसा है तो अग्नि कहते समय मुख जल जाना चाहिये परन्तु ऐसा होता नहीं है। इस आपत्ति का निम्न समाधान है। भर्तृहरि का कथन है।

'ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च द्वे शक्ती तेजसो यथा।
तथैव सर्वशब्दानामेते पृथगवस्थिते ॥'

अर्थात् ग्राह्यत्व और ग्राहक दो शक्तियाँ तेज रूप से सारे शब्दों में पृथक-पृथक रूप से रहती हैं। इसलिए शङ्का निर्मूल है। अतएव शब्दार्थ से तादात्म्य ही शक्ति है। इसका अन्यत्र विस्तार कहा गया है। यहां इतना ही जानना चाहिए कि ककारादि वर्ण रूप ही मन्त्रार्थ है। शब्द के स्वरूप से अर्थ तथा अर्थ से वर्ण के रूपों का अर्थ प्रगट होता है।

संगति– अब नाम के एक देशार्थ को कहते हैं।

कल्याण्येकाक्षर्यावीशित्री चापि ललिता च।
इत्थं नामत्रिशतीवाच्योऽर्थस्तत्तदक्षरस्यापि ॥१११॥
नामैकदेशमात्रे नामग्रहणस्य लोकसिद्धत्वात्।
नामोपस्थितिगम्यः प्रोक्तो नामैकदेशार्थः ॥११२॥

भावार्थ– ललिता त्रिशती स्तोत्र में प्रत्येक श्लोक के आदि में श्री विद्या के मन्त्र का एक वर्ण आया है, जो यह बताता है कि

कल्याणी, एकाक्षरी, स्त्री, ललिता आदि नाम उसी प्रथम एक वर्ण के वाचक हैं। अर्थात् यह उसी अक्षर का अर्थ है। इसप्रकार नाम के एक देश मात्र के ग्रहण से भी नाम का ग्रहण हो जाता है तथा यह लोक में भी सिद्ध है। नाम उसकी उपस्थिति का सूचक है, इसीलिए नाम का यह नामैक देशार्थ कहा गया है।

टीका– यहां 'ककार रूपा कल्याणी' इत्यादि अक्षरों में से एक-एक द्वारा ही आरम्भ किया गया है। तथा अक्षर की समानता के अनुसार ही प्रत्येक अक्षर से त्रिशती स्तोत्र का वर्णन है। यह तीन सौ नाम हुए हैं। यह मन्त्राक्षर ही अर्थ के प्रकाशनार्थ प्रवृत्त हुए है अस्तु, ककार का अर्थ भी 'ककार रूपा कल्याणी', 'ककार गुणशालिनी' इत्यादि रूपों में त्रिशति रूप से अर्थ रूप में कहे हैं। इसप्रकार आदि में जो वर्ण हैं उसको ही पृथक-पृथक रूप से विंशति अर्थों में कहा है। अस्तु, एक व्याकरण के प्रसिद्ध वचन 'नामैकदेशे नाम-ग्रहणम्' के अनुसार ही उक्त ककारादि को कल्पित किया गया है। आचार्यपाद का भी वचन है– 'शिवः शक्तिः कामः' इसमें नामों का उद्धरण देकर नाम को अवयव रूप से स्पष्ट कहा है कि– 'भजन्ते वर्णास्ते तव जननि नामावयवताम्' (सौन्दर्य लहरी)। अस्तु, नाम के एक देश से नाम का ग्रहण हो जाता है। जैसे भीमसेन को भीम या सत्यभामा को केवल भामा भी कहते हैं। इसी विचार से त्रिशती में प्रत्येक अक्षर को प्रथम नाम से जानकर उसके नामार्थ ही ही शब्द के रूपार्थ के लिए पुनरुक्त दोष न मानकर उसका तीन सौ अर्थों में कथन किया गया है। इसीप्रकार नाम के एक देश से ही यह त्रिशती विधि सम्पन्न हुई है।

संगति– जैसे ककार की बीस संख्या के अर्थों से ककार के रूप का वर्णन है। उसीप्रकार 'एकार' तथा 'ईकार' के रूपों का भी वर्णन हो सकता है। 'ईकार' तथा 'एकार' का वर्णन होना ही चाहिए ऐसा नियम नहीं है। अस्तु, ककार को ही इच्छित फल देने वाली के रूप में अच्छी तरह से कहा गया है। इसीप्रकार पन्द्रह अक्षरों को लिखकर प्रत्येक को बीस से गुणित करके उनकी संख्या चरम निकाली जाए तो निम्न प्रकार होगी।

तिथिमितबिन्दुगणोत्तरगजरसगिरिदस्त्ररामसंख्याकाः ।
अर्था भवन्ति योगान्नाम्नो नामैकदेशस्य ॥११३॥

भावार्थ– तिथि अर्थात् पन्द्रह बिन्दु रखकर यदि गज यानी आठ, रस यानि छः, गिरि यानी सात, दस्त्र यानी दो और राम यानी तीन इतने अङ्क बिन्दुओं के पूर्व 'अङ्कानां वामतो गति' से रखकर जो संख्या होगी उतने ही योगों से उत्पन्न नामैक देशार्थ होंगे। अर्थात् ३,२७,६८,००,००,००,००,००,००,००० एक देशार्थ नाम होंगे ॥११३॥

टीका– तीसरे पक्ष से नाम के नामैक देशार्थ को बीस से गुणित करके जो तीन सौ संख्या होगी उसको पन्द्रह से गुणित करके जो फलितार्थ होगा वही नामैक देशार्थ की संख्या होगी। अर्थात् मन्त्र के एक ककार के त्रिशती के अनुसार तीन सौ हुए, इसी प्रकार यदि मन्त्र के पूरे पन्द्रह वर्णों को इसी प्रकार कहा जाए तो उनकी संख्या उक्त गणनानुसार होगी। प्रत्येक अक्षर के बीस नाम हैं तथा कुल मन्त्राक्षर पन्द्रह हैं। अत यदि प्रत्येक अक्षरों के बीस-बीस का गुणा पन्द्रह बार किया जाए (२०x२०x२० ....(१५ बार) $२०^{१५}$ तो निम्न संख्या प्राप्त होगी।

पहले पन्द्रह बिन्दु रखकर उसके वाम भाग से गज अर्थात् आठ, रस अर्थात् छः, गिरि अर्थात् सात, दस्त्र अर्थात् दो, राम अर्थात् तीन संख्या लिखी जाए तो इसप्रकार होगी–

३२७६८००००००००००००००० उक्त नामैक देश देवी के नाम होंगे। (कहने का तात्पर्य है कि उसके पूरे नाम अनन्त हैं।)

संगति– शाक्तार्थ दो प्रकार का है– प्रथम अवयवार्थ तथा दूसरा, शक्ति समूहार्थ। पहले देवी के अवयवों का वर्णन करके अवयवार्थ कहते हैं।

वाक्कामशक्तिकूटैरवयवशो विग्रहो मातुः ।
प्रतिपाद्योऽत्रा कण्ठादा मध्यादा च पादाग्रात् ॥११४॥

भावार्थ– वाक्, काम, शक्ति अर्थात् वाक्कूट, कामराज कूट तथा शक्तिकूट रूप माता का शरीर ही है। यह तीन कूट ही उसके अवयव हैं। शिर से कण्ठ पर्यन्त वाक् कूट है। कण्ठ से कटि पर्यन्त

उसका मध्य भाग कामराज कूट है तथा कटि से पाद नख पर्यन्त उसका निम्न भाग शक्ति कूट है।

टीका- विद्या के वाक् कूट को शिर से कण्ठ तक का शरीर का एक भाग कहा है तथा कण्ठ से कटि पर्यन्त कामराज कूट शरीर का मध्य भाग है। एवं कटि से पाद पर्यन्त शक्ति कूट रूप शरीर का अन्तिम भाग है। इसमें वाच्य और वाचक का अभेद ही विवक्षित है। जैसा कि सहस्रनाम का वचन है –

'श्रीमद्वाग्भवकूटैकस्वरूपमुखपङ्कजा ।
कण्ठाधःकटिपर्यन्तमध्यकूटस्वरूपिणी ॥
शक्तिकूटैकतापन्नकट्यधोभागधारिणी ।
मूलमन्त्रात्मिका मूलकूटत्रयकलेवरा ॥ इति ॥

संगति- अब शक्ति समूहार्थ कहते हैं ।

वेधोभारत्यौ माधवलक्ष्म्यौ रूद्रपार्वत्यौ ।
रेफान्तवर्णषट्कस्यार्थान् क्रमशो विजानीयात् ॥११५॥

भावार्थ - ब्रह्मा-भारती, विष्णु-लक्ष्मी, रुद्र-पार्वती यह तीन युग्म ही प्रथम कूट के छः वर्णों के प्रतिपादक हैं ॥११५॥

टीका- यहाँ हकार और रेफ की पृथक-पृथक गणना करना चाहिए। दुर्वासादि ने विद्या के इन विशेषों का ऐसा ही वर्णन किया है।

ता एताः सकला अपि कामकला एव न ततोऽन्याः।
समानाधिकरण्यादीकारेणायमर्थोऽस्य ॥११६॥

भावार्थ- यह युक्त युग्म सब कामकला के ही रूप हैं। उससे भिन्न नहीं हैं। ईकार के समानाधिकरण रूप से इसका अर्थ समझ लेना चाहिए ॥११६॥

टीका- यह ब्रह्मादि छः देव हैं। यद्यपि ब्रह्मादि पुरुष भाव तथा भारती आदि स्त्री रूप से उसके वाचक रूप में शब्द के द्वारा कहे हैं 'पुमान् स्त्रिया' इनकी एकता रूप से भावना करनी चाहिए।

यद्यपि ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर को स्त्री रूप से भावार्थ प्रकरण में कहा गया है। इस बात का स्मरण रखना चाहिए। समानाधिकरण से वह एक अभिन्न रूप है। प्रत्येक अक्षर में यह विद्यमान है, क्योंकि ईकार में यह संयुक्त रूप से ही रहते हैं, उनमें भिन्नता नहीं है।

अयमेव कूटयोरपि परयोरर्थः परं तु तार्तीये।
द्वैतीयीकद्वैतीयीकहकारः सकारतः पूर्वः ॥११७॥
अन्वयितव्योऽक्षरशः शक्तेः शाक्तैर्विभाव्यत्वात्।
वामेच्छादिक शक्तिमयत्वोक्तेरेष शाक्तार्थः ॥११८॥

भावार्थ :– अन्य रूप से इन प्रत्येक अक्षरों में शक्ति और शाक्त अभिन्न रूप में भावित किए जाते हैं। इसलिए वामा, इच्छादि शक्ति रूप ही इनका स्वरूप है। यही शाक्तार्थ है ॥११७॥, ॥११८॥

टीका :– प्रथम कूट का जो अर्थ है, वही दूसरे और तीसरे कूट का अर्थ है। दूसरे कूट के मध्यम हकार का तीसरे कूट के सकार के प्रथम भाग में उसका अन्वय लगा लेना उचित है। क्योंकि उनमें परस्पर सजातीयत्व है। अस्तु, इसके प्रत्येक कूट में जो विशिष्ट रेफान्त वर्ण है उन्हें छः प्रकारों में प्रतिपादित किया है। अस्तु उसके अनुसार ही यह सारा उपरोक्त वर्णन सार्थक है। यहाँ प्रत्येक अकार में शक्ति है। इसलिए इनको उसी प्रकार से शाक्त समझना चाहिए क्योंकि प्रत्येक अकार उन वामा इच्छादि शक्तियों से समन्वित है। यही शाक्तार्थ है।

संगति– अब सामरस्यार्थ कहते हैं––

कहयोर्लसयोरर्थौ शिवशक्ती शुद्धयोरचोः शक्तिः।
उभयोः समरसभावो हल्लेखायाः परं ब्रह्म ॥११९॥
ब्रह्मैव शिवः शक्तिश्चेति प्रत्येककूटार्थः।
शिवशक्तिसामरस्याद्विद्याया एष सामरस्यार्थः ॥१२०॥

भावार्थ– ककार और हकार एवं लकार और सकार का पृथक-पृथक अर्थ ही शिव और शक्ति है। इनमें शुद्ध अच जो ए और ई हैं ये शक्ति के ही रूप हैं। वह दोनों शिव और शक्ति समरस भाव से

परब्रह्म स्वरूप से हृल्लेखा में स्थित हैं तथा प्रत्येक कूट का भी यही अर्थ है कि शिव तथा शक्ति दोनों ही ब्रह्म हैं। विद्या का यह सामरस्य भाव ही उसका सामरस्यार्थ है ।।११९।।, ।।१२०।।

टीका– कादि विद्या में तीन ककार हैं तथा दो हकार हैं, ये शिव रूप हैं, तथा तीन लकार और दो सकार हैं जो शक्ति रूप हैं। अतएव मन्मथ बीज जो 'क्लीं' है, उसमें ककार और लकार का योग है। एवं परा प्रसाद मन्त्र में हकार और सकार का योग है (ह्सौः, स्हौः)। मन्त्र के दूसरे और तीसरे वर्ण 'ए' और 'ई' अच रूप हैं। ये शुद्ध शक्ति रूप हैं। लज्जा बीज दोनों का सामरस्यात्मक परं ब्रह्म स्वरूप है। इसमें व्योम बीज हकार, अग्नि बीज रेफ, एवं तुरीय वर्ण ईकार तथा बिन्दु क्रम से प्रकाशग्रस्त सामरस्य से तादात्म्यापन्न होकर ही अपना अर्थ परब्रह्म रूप से बताते हैं। इसकी व्याख्या आगे करेंगे। शिवशक्तिमय उभय रूप ब्रह्म का भाव है। यही प्रत्येक का अर्थ है। इसी बात को त्रिशती में कहा है कि तीन ककार एवं दो हकार शिव के भाग हैं, शेष वर्ण सब शक्ति के ही अक्षर हैं, तथा ह्रींकार उभयात्मक है ।।

संगति– अब समस्तार्थ कहते हैं–

कन दीप्ताविति धातोः प्रकाशकत्वं ककारार्थः।
अध्ययनार्थकतेङः स्यादेकारस्तदीयकरणार्थः ।।१२१।।
वर्णद्वयमेलनतः प्रकाशिका बुद्धिरित्यर्थः।
ई व्याप्ताविति धातोस्तस्या व्याप्तिस्तृतीयवर्णार्थः ।।१२२।।
तस्य लहर्याधिक्यं तन्निर्माणम् मकारार्थः।

भावार्थ– 'ककार' का अर्थ प्रकाशक है, जो उसके 'कन' धातु से सिद्ध होता है। इङ्ग धातु से अध्ययन के अर्थ में 'एकार' की सिद्धि होती है, जिसका करण बुद्धि है। इन दोनों वर्णों के मिलने से 'प्रकाशक बुद्धि' अर्थ निकलता है। तीसरा वर्ण 'ईकार' व्याप्त भाव बताने वाला मूल धातु रूप है। अस्तु, इसका अर्थ सूक्ष्म व्यापक भाव बताता है। उसी ईकार के अधिक व्यापक लहरी भाव से 'मकार' का निर्माण होता है। अतः सूक्ष्म मति की व्यापकता ही प्रथम कूट का अर्थ है ।।१२१।।, ।।१२२।।

टीका– 'कन्यते' अर्थात् प्रकाशते के भाव से ककार का अर्थ प्रकाशक है। 'इङ अध्ययने' से एकार की सिद्धि उसके करण बुद्धि रूप में होती है। तीसरा अक्षर ईकार अपने दीर्घ भाव में गत्यात्मक होकर व्यापक लहरी भाव से मकार का निर्माण करता है। अस्तु, सूक्ष्म मति व्यापक विषयता ही प्रथम कूट का अर्थ है ॥

हन हिंसायामिति हं शौर्य प्रत्यर्थिहननकरणत्वात् ॥१२३॥
सं भोगसाधनम् धनमुपभोगार्थात् स्यतेः सुनोतेर्वा ।
कमु कान्ताविति धातोरिच्छाविषयोऽङ्गनादिः कम् ॥१२४॥
एषां गमनं प्रापणमोहाङ्-गत्यर्थधातुजन्यं हम् ।
तस्यातिशयो लहरी तत्र श्लिष्ट सवर्णदीर्घेण ॥१२५॥
ईकारस्तस्यार्थः कीर्तिः सर्वासु दिक्षु दीप्तत्वात् ।
ई दीप्ताविति धातोर्निर्मितिरनयोर्मकारार्थः ॥१२६॥

भावार्थ– 'हकार' का मूल धातु 'हन्' है जो हिंसा के अर्थ से शत्रु के हनन का शौर्य अर्थात् सामर्थ्य रखता है। सकार भोग साधन रूप धन का उपयोग प्रदान करने वाला भाव बनाता है। ककार यहाँ स्त्री आदि का अर्थ रखता है, क्योंकि इसकी मूल धातु 'कम्' है जो इच्छा विषयादि के अर्थ में प्रयुक्त है। यहाँ हकार जिसका गत्यर्थक मूल धातु 'हम्' है, गमन या प्राप्ति के शौर्यादि भावों के लिए आया हैं। इसी की अतिशयता ही 'लहरी' है। इसमें ईकार मिलने से सवर्ण दीर्घ संज्ञा है। ईकार की मूल धातु ईकार ही है जो दीप्ति के भाव में आती है। इसका अर्थ सारी दिशाओं में कीर्ति की व्याप्ति है। मकार के अर्थ से इन दोनों की उत्पत्ति होती है। अस्तु, शौर्य, धन, स्त्री एवं अतिशय कीर्ति प्राप्ति ही दूसरे कूट का अर्थ है ॥१२३॥ से ॥१२६॥

टीका–हन्यते के भाव में 'हं' शौर्य भाव रूप है। 'षुञ् अभिषवे' यह धातु करणार्थ सकार दृव्यार्थ भाव को बताती है। 'कं' काम्य भाव से स्रक्चन्दन वनितादि भावों को बताता है। 'हसकानां द्वन्द्वः' के अनुसार 'हकार' प्राप्ति के अर्थ में आता है। लहरी पद तत्पुरुष भाव है एवं ईकार कीर्ति अर्थ रूप 'द्वन्द्वः' है। इसमें मकार तत्पुरुष है। अस्तु, शौर्य, कीर्ति, धन, स्त्री आदि की अतिशय प्राप्ति ही दूसरे कूट का अर्थ है ॥

संगति– इसी के अनुसार वर्णन करते हैं—

वाग्भवकूटस्यार्थः सूक्ष्ममतिव्यापनाधिक्यम् ।
शौर्यधनस्त्रीयशसामाधिक्यं कामराजार्थः ॥१२७॥

भावार्थ–वाग्भव कूट का अर्थ है–सूक्ष्मबुद्धि की अधिक व्यापकता, तथा कामराज कूट का अर्थ है–शौर्य, धन, स्त्री और यश की समान रूप से अधिकता में प्राप्ति ॥१२७॥

एते सम्यक् कलयति सकला हरतेर्ह्कारः स्यात् ।
निखिलजगत्संहर्त्रीत्यर्थस्तस्यापि वर्णस्य ॥१२८॥
ईकारः प्रश्लिष्टः सृष्टिस्थितिरूपदीप्तिकर्त्रर्थः ।
यद्वा हृदि खेदहरे प्रकाशते तेन माता ह्रीः ॥१२९॥
सकलान्तेन पदेन ह्रींकारे कर्मधारयः कार्यः ।
तस्य विशेष्यो मः स्नान्नादार्थः संविदर्तो वा ॥१३०॥

भावार्थ– इस समस्त को जानना ही सकल है जो हरण करने के अर्थ से ह्रींकार का भाव है। यह निखिल जगत हंत्री भाव है। इसी के वर्णन में यह तीसरे कूट में 'सकल' पद से आता है। ईकार सृष्टि, स्थिति के प्रकाश रूप को बताता है जो ह्रींकार से युक्त है अथवा जो हृदय के खेद को हरण करके उसको प्रकाशित करती है उसी माता का वाचक यह ह्रींकार है। सकल पद इस ह्रींकार से मिलकर कर्मधार्य का कार्य है। इसका ही विशेष्य 'मकार' है जो उसके नाद या संविद अर्थ को बताता है ॥१२८॥ से ॥१३०॥

टीका– दोनों कूट द्वन्द्व के ही स्वरूप हैं। जो इनके निर्माण को सम्यक् प्रकार से जानता है, वही 'सकल' है। इसका अन्त मकार में हुआ है। 'ह्' हरण के अर्थ में है। 'ई दीप्तौ' यह धातु ईकार के दीप्त भाव को बताती है। दीप्त से सृष्टि और स्थिति प्रकाशित होती है। हकार से सृष्टि, स्थिति आदि पञ्चकृत्य भाव लक्षणा से बताया गया है। अर्थात् जो सबका विषय कर्त्ता है या भोक्ता है यही हकार का अर्थ है। दहराकाश का प्रकाशक भाव 'ह्रीं' है। तीनों कूटों के अन्त में जो मकार आया है, वह अनुस्वार रूप है तथा तीसरे कूट के अन्त का 'मकार' विशेष्य रूप है। इससे बुद्धि, शौर्य, धन, स्त्री

और यश का समान रूप से अधिक प्राप्त करानेवाला सारे जगत, सृष्टि आदि का कर्त्ता, दहराकाश में रहने वाला नाद रूप अथवा चिद् रूप ब्रह्म ही मन्त्र का अर्थ सिद्ध हुआ।

संगति :– अब इसका प्रकार बताते हैं।

धातोर्बह्वर्थत्वाद् बहुलग्रहणात् पृषोदरादित्वात्।
आकृतिगणपाठेन स्वेच्छानुगुणादुणादिकल्पनतः ॥१३१॥
छन्दसि सर्वविधीनां वैकल्पितावशादमुष्य मनोः।
सिद्धैः कथितेऽर्थेऽस्मिन् वैयाकरणानुशासनानुमतिः ॥१३२॥

भावार्थ :– मन्त्र का अर्थ जैसा सिद्धों को ज्ञात हुआ, उसे निम्न प्रकार से वर्णन किया गया है।

धातुओं के बहुत से अर्थ होने के कारण, बहुल का ग्रहण होता हैं। पृषोदरादि गण के अनुसार या आकृति गणपाठ के अनुसार उनके रूप होते हैं। इसलिए स्वेच्छा पूर्ण करने के लिए इसे उणादि सूत्र को स्वीकार करके पूरा किया गया है। सामान्य व्याकरण के नियम पूरी सूक्ष्मता से छन्दसि प्रयोगों में नहीं लागू होते हैं। इसलिए इन सिद्धों के कहे हुए अर्थ को बताने के लिए वैयाकरण शासन की अनुमति लेते हैं ॥१३१॥, ॥१३२॥

टीका– उपरोक्त वर्णन के अतिरिक्त टीका में और कुछ नहीं कहा है। अस्तु, जैसा सिद्धों ने व्याकरण से सिद्ध करके मन्त्र का अर्थ दिया है वही कहा गया है। क्योंकि पृषोदरादि गण के अनुसार या आकृति गण पाठानुसार अपने कार्य सिद्धि के लिए उसे ही माना है। क्योंकि छन्दसि प्रयोगों में व्याकरण के नियम पूरी सूक्ष्मता से लागू नहीं होते हैं।

संगति– अब समस्तार्थ का निरुक्ति पूर्वक उपसंहार करते हैं–

बहुतरसमासयोगात् समस्तपुरुषार्थसाधनत्वोक्तेः।
संक्षेपात् सारोक्तेः श्रीविद्यायाः समस्तार्थः ॥१३३॥

भावार्थ– इसे समस्तार्थ इसलिए कहते हैं कि यह पुरुष के समस्त अर्थों का साधन अनेक शब्दों का समुदाय वाच्य यह मन्त्र श्रीविद्या का संक्षेप सार श्रीविद्या का समस्तार्थ है ।।१३३।।

टीका– यह मनुष्य के समस्त अर्थों का साधन भूत संक्षिप्त अर्थ है। यही निरुक्ति अर्थात् शब्दों की इसके व्युत्पत्ति सहित व्याख्या है ।।

संगति - अब सगुणार्थ कहते हैं–

को विधिरेकारो हरिरकार ईशः स्तवार्थमीडपदम् ।
द्विस्वरमध्यगतस्य डकारस्य लकार आदेशः ।।१३४।।
तेनर्ग्वेदात्मत्वं सूचितमाद्यस्य कूटस्य ।
क्रमशोऽग्रिमकूटयुगे तेन यजुःसामता सिद्धा ।।१३५।।
ह्रीमिति नाम विशेष्यं नपुंसकं ब्रह्मलक्षकत्वेन ।
विधिहरिगिरिशैरीड्यं ब्रह्मेति प्रथमकूटार्थः ।।१३६।।

भावार्थ- ककार ब्रह्मा है, एकार विष्णु है तथा अकार शिव है। यहाँ ईड पद स्तुति के अर्थ में प्रयुक्त है। दो स्वरों के मध्य में जो डकार है उसको लकार आदेश हो गया है। अस्तु, प्रथमकूट ऋग्वेदात्मक भाव सूचित करता है। इसी क्रम से अगले दोनों कूट क्रमशः यजुः और साम वेदात्मकता को सूचित करते हैं। ह्रीं नामविशेष्य नपुंसक भाव से ब्रह्म को लक्ष्य करता है। इसप्रकार ब्रह्मा, विष्णु, महेश द्वारा स्तुत्य ब्रह्म ही प्रथम कूट का अर्थ है ।।१३४।। से ।।१३६।।

टीका– एकार के पश्चात् जो पूर्व रूप अकार है, वह युक्ति-युक्त ही है। वही शिव का वाचक है। ककार प्रजापति को बताता है तथा एकार विष्णु को बताता है। इसप्रकार एकाक्षर निघण्टु के अनुसार ककार, एकार, अकार रूप ब्रह्मा, विष्णु और शिव के वाचक अक्षर हैं। 'ईड स्तुतौ' धातु के अनुसार 'ईड' स्तुत्य के अर्थ में प्रयुक्त है। 'अग्निमीडे पुरोहितम्' के अनुसार दो स्वरों के मध्य डकार के स्थान पर लकार आदेश होता है। इसप्रकार डकार ही लकार हो हो गया है। यह जानना चाहिए कि प्रथम कूट ऋग्वेदात्मक है, दूसरा यजुर्वेदात्मक और तीसरा सामवेदात्मक है। 'कामो योनिः

कमला वज्रपाणि' के अनुसार वज्रपाणि शब्द से लकार उद्धृत होता है, ळकार नहीं। तथापि लकार और ळकार के अभिप्राय में भेद नहीं है। इसलिए लकार ही लिया गया है, जिसके अन्य त्रिशती आदि में भी उदाहरण हैं। 'ह्रीं नमः' इसप्रकार यह साम्प्रदायिक प्रयोग है, अर्थात् ह्रीं' ब्रह्म का वाचक है॥

हसकं तु हसद्वदनं मतं ककारस्य वदनवाचित्वात्।
यद्वा हस आनन्दः कः सूर्यो हस्तु चन्द्रः स्यात्॥१३७॥

एतौ लौ नयने यस्य तत्तुः कहलं रवीन्दुनेत्रमिति।
तेन प्रकाशकत्वाच्चिद्रूपत्वं च निगदितं भवति॥१३८॥

विधिहरिगिरीशेड्यत्वे हेतू एते हसत्वकहलत्वे।
तेनात्यमितानन्दं चिद्ब्रह्मेति द्वितीयकूटार्थः॥१३९॥

भावार्थ– ककार मुख का वाचक है। अस्तु, 'हसक' हँसमुख अर्थात् हास्य युक्त मुखमण्डल का वाचक है। अथवा 'हस' आनन्द रूप है। 'क' सूर्य रूप है। हकार चन्द्र रूप है। यह लकार नयन के अर्थ में है। अर्थात् 'कहल' का अर्थ है कि रवि और चन्द्र ही जिसके नेत्र हैं। इसमें उसका प्रकाशक या चिद्रूप ही झलकता है। यह 'हसत्व' और 'कहलत्व' दोनों ब्रह्मा, विष्णु और शिव से उसे स्तुत्य बताने के हेतु हैं। इसप्रकार अमितानन्द अर्थात् अखण्डानन्द चिद् ही दूसरे कूट का अर्थ है॥१३७॥ से॥१३९॥

टीका– 'हस' हास्य के अर्थ में है तथा 'ककार' मुख का वाचक है। अर्थात् हँसमुख ही जिसका स्वरूप है। अथवा, हास्यपूर्ण आनन्द का देने वाला भी 'हस' पद का अर्थ लक्षणा से है। 'कश्च', 'हश्च' ही कहौ' तथा 'कहौलौ' है, उसी का यह 'कहल' बन जाता है। जिसका अर्थ मुख ही ककार रूप सूर्य से स्मरण किया गया है हकार रूप चन्द्र से स्मरण किया गया है। 'इन्द्रेऽपि लोचने लः स्यात्' यह एकाक्षर निघण्टु है। 'हस' पद 'कहल' पद कर्मधार्य है। इसी अर्थ में ये मूल के प्रतिपादक हैं। ह्रीं का अर्थ प्रथमकूट के अनुसार ही है॥

सकलकलाभिः सहितं सकलं ब्रह्म तु तृतीयकूटार्थः ।
इत्थं गुणगणकथनाद्विद्याया एष सगुणार्थः ।।१४०।।

भावार्थ– सकल कलाओं सहित जो सकल ब्रह्म है वही तीसरे कूट का अर्थ है । इसप्रकार श्रीविद्या के समूह को कथन करने वाला यह सगुणार्थ है ।।१४०।।

संगति– अब चरम उद्देश महावाक्यार्थ कहते हैं, जिसमें जीव और ब्रह्म की एकता सिद्ध की गई है––

विधिहरिशिववचना अपि ककार एकारकोऽकारः ।
सृष्टिस्थितिभङ्गात्मकतत्तज्जनकत्वलाक्षणिकाः ।।१४१।।
ईश्वरवाचीकारो वक्ति डकारः सदाशिवं ताभ्याम् ।
लक्षणया तत्र तिरोधानानुग्रहणकृत्यता गदिता ।।१४२।।

भावार्थ– यद्यपि ककार, एकार और अकार वर्ण ब्रह्मा, विष्णु और शिव के वाचक हैं, तथापि यह सृष्टि, स्थिति और लय को लाक्षणिक तौर पर बताते हैं । ईकार ईश्वर का वाचक है, तथा डकार सदाशिव का वाचक है । तथापि लक्षणा रूप से ये उनके कार्य (तिरोधान और अनुग्रह) के सूचक हैं ।।१४१।, ।।१४२।।

टीका– ईकार का एक देशीय न्याय से जो नाम है वही ईश्वर का बोधक है । इसी प्रकार डकार महेश का बोधक कहा जाता है । इसी वचन के अनुसार सदाशिव के स्वभाव से उसे अनुग्रह का कर्त्ता कहा जाता है । इस प्रकार 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुति कथन से ये सब ब्रह्म के तटस्थ लक्षण हैं ।

संगति– अब 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' के कथनानुसार दूसरे कूट के स्वरूप लक्षण बताते हैं––

हस आनन्दः सत्यं कं हमनन्तं च लं ज्ञानम् ।

भावार्थ– 'हस' आनन्द है, ककार सत्य स्वरूप है, हकार अनन्त रूप है तथा लकार ज्ञान स्वरूप है ।।

टीका– 'सखा कश्च बुधैः प्रोक्तः' इस कोष वचनानुसार सखि अर्थात् सहचर का वाचक 'ककार' है । सखित्व भाव को प्राप्त ककार

का अर्थ है। उसका यथार्थ वर्णन उसकी शक्य सम्बन्धि प्रकृति से ही ज्ञातव्य है। हकार व्योम बीज होने के कारण अनन्त का अर्थ बताता है तथा प्रत्यक्ष ज्ञान का जनक लोचन लकार वाची होने के कारण ज्ञानार्थक है ॥

इत्थं ब्रह्म तटस्थस्वरूपलक्षणयुगेन निर्णीय ॥१४३॥

तदभेदं जीवगणे वक्ति तृतीयेन कूटेन।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्यकलात्रितयेन साहित्यात् ॥१४४॥

सकलपदं जीवपरं ब्रह्मपरं शक्तिबीजं स्यात्।
समानाधिकरण्यात् तल्लक्षितशुद्धयोरभेदार्थः ॥१४५॥

अत्यल्पमिदं कथितं यत् सर्वं खल्विदं ब्रह्म।
इत्येवं बोधयितुं सकलपदं वा तृतीयकूटगतम् ॥१४६॥

एवमवान्तरवाक्यैर्जीवब्रह्मस्वरूपमभिधाय।
तदभेदो वर्णित इत्येष महापूर्ववाक्यार्थः ॥१४७॥

भावार्थ– इसप्रकार ब्रह्म के तटस्थ और स्वरूप लक्षण दोनों के निर्णय से उसके साथ जीव गण का अभेद तीसरे कूट के द्वारा कहा जाता है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति कही जाने वाली तीन अवस्थाओं के साथ ही 'सकल' पद से जीव उस परब्रह्म स्वरूप की शक्ति का ही बीज है। समानाधिकरण से वह उसी को लक्षित करता है तथा शुद्ध रूप में उससे अभिन्न ही है। जो अल्प रूप से इदं के द्वारा कहा गया है, वह 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का ही रूप है। अर्थात् इस श्रुति वचन में जो 'इदं' पद आया है, यह जीव उसी का भाव है जिसका बोध तृतीय कूट के 'सकल' पद से होता है। अस्तु, इसप्रकार के अवान्तर वचनों से जीव ब्रह्म स्वरूप की एकता (अभेद) प्रतिपादित की जाती है, यही इस मन्त्र का महावाक्यार्थ है ॥१४३॥ से ॥१४७॥

टीका– 'तत्त्वमसि' महावाक्य से 'तत्' पदार्थ और 'त्वं' पदार्थ एक अविभक्त भाव को समानाधिकरण के द्वारा अभेद रूप से जानना चाहिए। अर्थात् 'तत्' और 'त्वं' के लक्ष्यार्थ और वाच्यार्थ की समानाधिकरण के द्वारा एकता जानकर जीव और ब्रह्म की एकता जान लेनी चाहिए। वाच्यार्थ की जहद और अजहद से तथा लक्ष्यार्थ की

अजहद और जहद से पदार्थ की स्थिति है । इसमें तत् पद का वाच्यार्थ सृष्टि आदि पञ्च कार्यों का जनक है– जैसा कि 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुति वचन में कहा गया है तथा लक्ष्यार्थ कृत्य से अतीत निर्विशेष ब्रह्म है । फिर भी उसका 'सत्यं ज्ञानम्' इत्यादि वचनों से प्रतिपादन हुआ है । तदपि 'त्वं' पद का वाच्यार्थ जाग्रदादि पञ्च अवस्थाओं का विशिष्ट भाव है । उदाहरणार्थ इस आकाश में बाज आदि कोई पक्षी उड़ते-उड़ते थककर अपने पक्षों को समेटकर अपने घोंसले में श्रान्त हो जाता है । इसी प्रकार यह पुरुष अन्त में अपने इसी भाव में शान्ति को प्राप्त होता है । अथवा, जैसे श्रुति वचनों द्वारा कहा गया– एक महामत्स्य नदी के दोनों किनारों को छूता हुआ आलोड़ित होता है । लक्ष्यार्थ अवस्थाओं में अतीत ब्रह्म है तदपि वही विज्ञानमय प्राण के द्वारा हृदय में स्वयं ज्योति पुरुष है । उस दृष्टा को दृष्टि से नहीं देखा जा सकता जिसका प्रतिपादन 'विज्ञातरेकेन बीजानायात्' इत्यादि वचनों के द्वारा हुआ है । इसप्रकार से अवान्तर वचनों द्वारा वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ का निर्णय करके महावाक्य से लक्ष्यार्थ का अभेद बोध कराया गया है । यद्यपि श्रुति में कृत्य की तीन ही अवस्थाओं का वर्णन हुआ है तथापि तन्त्रानुसार जो पञ्च उपलक्षण के द्वारा परतत्त्व की व्याख्या की गई है, उसे उसीप्रकार मान लेना चाहिए जैसे त्रिवृत्तिकरण से वेदान्त में पञ्चीकरण की कल्पना को मान लिया गया है । प्रस्तुत प्रकरण में तीसरे कूट के 'सकल' पद से जो उसे अवस्था सहित माना है, उसीसे वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ की एकता कही गई है । उसी अर्थ को पहले और दूसरे कूट में 'त्वं' पद के वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ को पृथक-पृथक करके बताया गया है । इसलिए तन्त्र के मतानुसार वाच्यार्थ को अत्यन्त अभेद रूप से ही जानना चाहिए, जैसाकि 'शांभवानन्द कल्पलता' ग्रन्थ में प्रतिपादन किया गया है कि पूर्व के दो कूटों में सृष्टि कर्तृत्वादि विशिष्ट अवस्था का वैशिष्ट्य वाच्यार्थ का समर्पण है, तथा तीसरे कूट में उसका और जगत का सम्पूर्ण अभेद जाना गया है । अस्तु, यहाँ वेदान्त शास्त्र का अंश रूप में वर्णन देकर अपना विषय समझाया गया है । यहाँ 'महावाक्य' शब्द जो महावाक्य के पूर्व का भाव है उसी का वाचक यह महामन्त्र है । अस्तु, ये सारे अर्थ उपलक्षण मात्र हैं, जिनका

तन्त्रों में अनेक रूप से संग्रह हुआ है। योगिनी हृदय में भी इसी के प्रतिपादन से आरम्भ करके 'आत्मनः स्फुरणं पश्येद् यदा सा परमा कला' चार-चार पदार्थों के द्वारा जो भी कहा है उसी की वाचक यह कूट त्रय तुरीय विद्या है।

'कूटत्रितययुक्तस्य सकलस्य मनोः पुनः।
एतानि वाच्यरूपाणि कुलकौलमयानि तु ॥'

अर्थात् जो तीन कूट से युक्त 'सकल' रूप मन है, यही वाच्य रूप कुल कौलमय रूप समझना चाहिए, एवं जहाँ तक इन चारों का भाव है वहीं तक मन्त्र का अर्थ है। उसी का प्रथम अंश 'पुट धाम' है जैसा कि पहले श्लोकों से कहा है। यद्यपि इसे ही कूटों में अभेद रूप से कहा है, तथापि इसका वाच्य और वाचक भाव में ही पर्यवसान किया गया है। शब्दार्थ का शक्ति के साथ तादात्म्य है, यह बात पातञ्जल मंजूषा में विस्तार से प्रतिपादित है। कादि मत में भी पैंतीसवें पटल में चौबीस त्रिभिर्व्याकुलाक्षरों में श्लोकों से इसका अर्थ वर्णित है। इसमें ८, ४६, २७, ३५१ प्रकार का इसे कहा है।

अस्तु, तीसरे कूट में तीन वर्णों के द्वारा सारे अर्थों को समझना चाहिए तथा तुर्य अक्षर ईकार को देवी के अर्थवाला जानना चाहिए। इसप्रकार यह पहले श्लोक का अर्थ है। अस्तु, सारे तन्त्रों में इस प्रकार देवी का अर्थ गुप्त रूप में कहा है।

ललिता देवी का सारा अर्थ तीन वर्णों (सकल) में ही कह दिया है। शेष सब देवी का ही रूप हैं। सारा जगत अशेष रूप से हृल्लेखात्मक ही है। इसीप्रकार सारे तन्त्रों में इसे गुप्त रूप से ही कहा है। अतः प्रकाश रूप व्योम में जो अग्नि का रूप है वही विमर्श रूप ईकार है। उसका निभालन बिन्दु रूप से है। अर्थात् उसका सामरस्य इसी में है। इसी तीसरे कूट का प्रतिपादन दूसरे कूट में तादात्म्य बताकर किया गया है। अस्तु, प्रकाश ग्रसित शब्द ही उत्पत्ति स्थिति, संहार का हेतु विद्या-अविद्या के वाच्य-वाचक भाव से कहा गया है। अर्थात्, लज्जा बीज में स्थित जो चार बीज अक्षरों का प्रकाशक ग्रसिष्णु भाव है इस सामरस्य भाव का प्रतिपादन दूसरे कूट में हुआ है वही तीसरे का तात्पर्य है। शब्द ही प्रकाश का ग्राहक है।

उसी की उत्पत्ति, संहारादि ही विद्या और अविद्या का वाचक है। वहाँ उसके अर्थ को अतिअल्प रूप में कहा गया है, जो इस श्लोक से सूचित किया गया है तथा पुट धाम से जो तेरह अर्थ कहे हैं, वही गायत्री आदि पन्द्रह अर्थों में कहा है। भावार्थ चार हैं। नामार्थ तीन हैं। शाक्त्यार्थ दो हैं। कौलिकार्य भी गणेशादि रूप में देवी, विद्या और चक्र के भेद से तीन प्रकार का है। महावाक्यार्थ दो प्रकार का होते हुए चौदह प्रकार का है। शेष दश हैं। इसप्रकार मिलाकर सैंतीस अर्थ होते हैं। नामैक देशार्थ अनन्त प्रकार के भेद वाला कहा है एवं बहुत से तन्त्र के अर्थों का इसमें संग्रह किया गया है ॥

शक्त्या लक्षणया वा ये येऽर्था दर्शिता मनोरस्य।
तेषु न कोऽपि विवादः प्रत्यक्षेणैव सिद्धत्वात् ॥१४८॥

भावार्थ– शक्ति और लक्षणा के द्वारा जो-जो अर्थ मन के पूर्ण समाधान के लिए इस मन्त्र के दर्शाये गए हैं, उनमें कोई भी विवाद नहीं है। यह तो प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है ॥१४८॥

टीका– मनन ही मन्त्र है। यह प्रत्यक्ष ही है। व्याकरण कोष के अनुसार शक्ति ग्राहक के शक्य सम्बन्ध से स्पष्ट ही प्रदर्शित किया गया है। अर्थात् शक्ति (अभिधा) अथवा लक्षणा द्वारा इस मन्त्र के जो अर्थ प्रदर्शित किए गए हैं उनमें कोई विवाद नहीं हैं। ये अनुभव से ही सिद्ध हैं ॥

ये पुनरिह भावार्थादयः षडर्था मनोरुक्ताः।
तेषु यदि शक्तिभक्ती न हि संभवतस्तदापि का हानिः ॥१४९॥

भावार्थ– भावार्थादि छः भाव से जो मन्त्र के अर्थ किए गए हैं, यदि उनमें किसी की भक्ति न होकर शक्ति संभव न होवे तो इससे कोई हानि नहीं है ॥१४९॥

टीका– यदि व्याकरण से आद्य भावापन्न ग्राहक शक्ति न होवे तो इससे शक्य सम्बन्ध रूपा भक्ति भी न हो तो शक्ति और भक्ति के अतिरिक्त व्यक्ति रूपा व्यञ्जनावृत्ति होगी जो इन दोनों से तीसरी है। कहा भी है कि प्रतिभावान लोगों को ही वाच्य अर्थों का देश,

कालानुसार विशिष्ट अर्थों का ज्ञान होता है। तात्पर्य है कि इससे उक्त प्रकार से उपासनादि की जाए, इसी प्रयोजन से यह सब कहा गया है। यदि नहीं होती है तो भी कोई हानि नहीं है ॥

संगति– बहुत से लोगों ने व्यञ्जना वृत्ति को माना है, इसलिए कहते हैं–

आस्तामन्या वृत्तिर्विलक्षणा तद्ग्रहस्तु मनोः।
शिववचनेन भविष्यति यद्वैषा शक्तिरेवास्तु ॥१५०॥
एतस्मादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरेच्छात्वात्।

भावार्थ– यदि किसी की विलक्षण वृत्ति के द्वारा उसका ग्रहण मन्त्र के या मन के अनुसार शिव के ही वचनों द्वारा हो जाता है, तो यह सब उस शक्ति का ही कारण है, जो ऐसा होता है। क्योंकि अमुक शब्द से अमुक अर्थ का ग्रहण ईश्वर इच्छा से ही होता है। अर्थात् ईश्वर ने ही समस्त शब्दों के अर्थों का निर्धारण किया है कि अमुक शब्द का अमुक अर्थ हो ॥१५०॥

टीका– अन्य लोग जिनकी शक्ति और भक्ति का व्यक्तित्व विलक्षण है, अर्थात् शक्त्यादि तीनों प्रक्रियाओं से विलक्षण प्रक्रिया-शाली हैं। अर्थात् जो लोग स्वेच्छाचारी मार्ग का त्याग करके चलते हैं उनके लिए ही यह शिव से निर्दिष्ट अर्थ स्पष्ट रूप से कहे गए हैं। क्योंकि जिस वस्तुका जो शब्द वाचक है उसे शिव ने ही निर्धारित किया है ॥

प्रतिपदमर्थविशेषाज्ञानेऽप्यास्तामखण्डवाक्यस्य ॥१५१॥
अर्थोऽप्यखण्डरूपो विशिष्टमतिरिक्तमिति हि सिद्धान्तः।
आसेचनकव्याप्त्यादिपदवदास्ता पदत्वमपि ॥१५२॥

भावार्थ– प्रत्येक पद का अर्थ एक विशेष ज्ञान का रूप है। पूरे अर्थ के लिए अखण्ड वाक्य यानी पूरा वर्णन आवश्यक है। अखण्ड रूप ही अर्थ है, विशिष्ट अपूर्ण ही है, यह सिद्धान्त है। जैसे 'असेचनक' पद से उसमें व्याप्त अर्थ का ज्ञान होता है। अस्तु, एक अखण्ड पद ही पूरे ज्ञान के भाव को बताता है ॥१५१॥, ॥१५२॥

टीका– इस पद का अर्थ यह है, इसका बोध उस पद के अन्दर जो इच्छाशक्ति है वही उस अर्थ की जनक है तथा वही विशेष्य शालिनी उसके प्रकार को निरूपित करने में निष्ठ है। इसप्रकार पद में ही उस विषय के अर्थ को प्रतिपादन करने की सामर्थ्य है। वही शक्ति है। इस वाक्य का यह अखण्डार्थ है, इसका बोध कारक भाव उसी की इच्छा है जिसकी उसने कल्पना की है। वाक्य का अखण्डत्व ही वैयाकरणी को अभीष्ट है। अखण्डत्व में ही अर्थवत्ता है, जैसे 'प्रकृष्ट प्रकाशचन्द्र:' इत्यादि वाक्यों के अर्थ का वर्णन उपनिषद् को इष्ट है। उसके विचार करने पर विशिष्ट से अतिरिक्त अर्थों का भी बोध होता है। इसलिए प्रत्येक पद के अर्थ–विवेक की यह रीति है कि सर्वत्र एक पद का सम्पूर्ण अर्थ नहीं लिया जाता, अपितु प्रसङ्गानुसार विशेष प्रयोजनीय अर्थ ही लिया जाता है। वही उस वाचक इष्ट का वाच्य होता है। जैसे 'घटत्व' में समवायी रूप से घट पद ही वाच्य है। एवं 'तदासेचनकं तृप्तेर्नास्त्यन्तो यस्य दर्शनात्' इति कोषात्। तात्पर्य है कि जिसके दर्शन से तृप्ति हो जाती है। इसमें व्याप्ति के अनुसार ही आसेचनक का अर्थ होता है। अत: आदि नहीं उपाधि का ग्रहण होता है। अस्तु, ईश्वर की इच्छा से ही पद में विशेषत्व भाव से प्रकृति का निर्वाह अर्थात् प्रकरण के अनुसार निर्वाह होता है। यही उसकी विलक्षण इच्छा कल्पना शक्ति है॥

संगति– एक पद में अनेकार्थता दोष नहीं है, इसे कहते हैं।

एकस्यानेकार्था दृष्टा हरिसैन्धवादिषु पदेषु।
अन्यतमैकावगतौ प्रकरणतात्पर्ययोर्विशेषकता ॥१५३॥
प्रकृते तु सर्वबोधस्येष्टत्वान्नो विशेषकाकाङ्क्षा।
अथवा सकलार्थेष्वपि शक्त्यैक्यं पुष्पवंतपदवदिह ॥१५४॥

भावार्थ– एक पद अनेकार्थक हो सकता है। जैसे हरि, सैंधव आदि पदों के अनेकार्थ स्पष्ट हैं। अस्तु, अन्य अर्थों का त्याग करके प्रकरण और तात्पर्य के अनुसार उसके विशेष अर्थ का ग्रहण होता है। प्रकरण के अनुसार ही इष्ट अर्थ में सर्वबोध रूप से उसकी विशेष की इच्छा होती है। इसीलिए सारे अर्थों में एक ही शक्य भाव 'पुष्पवन्त' पद के अनुसार स्थित है॥१५३॥, ॥१५४॥

टीका– पद में अनेकार्थता प्रमाण के अनुसार निर्दोष है। सर्वत्र जहां एक पद के अनेक अर्थ होते हैं, उनमें एक के बोधन के लिए प्रकरण का ज्ञान ही कारण है, जिससे उसमें अभीष्ट कल्पना ही निर्दोष है इसका निर्णायक प्रकरण ही होता है अथवा ईश्वरेच्छा से जिस विषयीभूत भाव से जिस विशेष का बोध होता है, वही शक्य माना जाएगा और वही लिया जाएगा। जैसे 'पुष्पदन्त' पद से सूर्य चन्द्र का अर्थ पर्याप्त रूप से स्वीकृत है। अतः प्रसङ्गानुसार एक ही शक्ति उन सारे अर्थों को वहन करती है जैसे पुष्पदन्त में ॥

यत्र प्रतिपदमर्थस्तान् प्रत्यस्यास्तु वाक्यत्वम् ।
क्वचनावान्तरवाक्यं समासवाक्यं महावाक्यम् ॥१५५॥

भावार्थ– जब इस बात का विचार हो कि प्रत्येक पद का अर्थ होता है जिसका वह वाचक है। तब इस मन्त्र का कहीं अवान्तर वाक्यों से तथा कहीं समास वाक्यों से तथा कहीं महावाक्यों से ग्रहण करना चाहिए ॥१५५॥

टीका– यहाँ गायत्र्यार्थ तथा नामार्थ के विचार से कहते हैं कि अवान्तर वाक्य से सगुणार्थ तथा अवयवार्थ आदि लेना चाहिए। अवान्तर वाक्य से ही नाम या जो वाक्य समूह अभिन्न होकर स्थित हैं उसके साथ पद समूह भी लेना चाहिए। यहाँ महावाक्य को औपाधिक रूप से नहीं लेना चाहिए जैसी कि उसकी प्रकृति नहीं है। समास वाक्य से समस्तार्थ लेना चाहिए तथा महावाक्य से चरम अर्थ लेना चाहिए।

एकस्यानेकार्थे विनियोगादर्थबाहुल्यम् ।
वेदे बहुशः स्वीकृतमत्र त्वेकत्र विनियोगात् ॥१५६॥
अखिलार्थबोधनियमो नियमादृष्टं प्रकल्पयति ।
सिद्धे प्रमाणदाढर्ये सकलं कल्प्यं हि तदविरोधाय ॥१५७॥

भावार्थ- एक का अनेकार्थ होना विनियोग के लिए बहुल रूप वाला होगा। वेद में यह बहुल भाव विनियोग में स्वीकृत है। अखिल अर्थ बोध के नियम में एक अदृष्ट की कल्पना की जाती है। अस्तु, प्रमाण से सिद्ध होने पर भी उस सकल या सगुण की कल्पना ही उसकी संगति बैठाने के लिए आवश्यक है ॥१५६॥, ॥१५७॥

टीका– पद पक्ष में अनेकार्थता दोष का परिहार कहकर वाक्य पक्ष में भी ऐसा ही हो सकता है। जैसे पुरुष सूक्त का विनियोग अनेकार्थक होने से वह तत्तद्देवता की पूजा में लिया जाता है। इतना ही यहाँ विशेष है। अस्तु, तत्तद्पूजा में उसका अर्थ पुरुष सूक्त से उसी भाव में स्मरण होता है, जिसकी पूजा है। यहाँ इस प्रकरण में उसका सर्व स्थान पर लिया हुआ अर्थ ही स्मरण में लेकर एक अदृष्ट की उत्पत्ति समझनी होगी। यही इसका भाव है॥

संगति– प्रमाण से सिद्ध होने पर उसका दृष्टान्त कहते हैं–

यागस्य स्वर्गं प्रति संसिद्धे हेतुहेतुमद्भावे ।
तदनुपपत्तिं निरसितुमलौकिकापूर्वमपि क्लृप्तम् ॥१५८॥

भावार्थ– यज्ञ और स्वर्ग परस्पर कार्य कारण भाव से सिद्ध होते हैं। उनके मध्य जो अपूर्व है वह लौकिकों को उपलब्ध नहीं होता है। जिसके स्वीकारने से ही दोनों में सङ्गति बैठाई जाती है। अर्थात् अपूर्व की कल्पना के बिना यज्ञ और स्वर्ग की प्राप्ति लौकिकों को नहीं होती है ॥१५८॥

टीका– 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' वाक्य के अनुसार यज्ञ कर्म तो करने पर ही समाप्त हो जाता है। उसके परिणामस्वरूप जो अदृष्ट रूप एक अपूर्व माना जाता है वही कर्त्ता को उस यज्ञ का फल देता है। अर्थात् यज्ञ के फलस्वरूप जो स्वर्ग का जनक है वह भिन्न कालीन होने पर भी योग से देवता के प्रसाद रूप में कर्म नष्ट होने पर भी मिलता है। अस्तु, उस अपूर्व के निर्वाह के लिए जिसकी कल्पना की जाती है उसी का सारे तन्त्र में विस्तार से वर्णन हुआ है॥

संगति– इस प्रकरण में जो पूर्व वर्णित श्रीविद्या के पन्द्रह अर्थ हैं, उनको संग्रह रूप से कहते हैं –

विद्यावर्णयत्तोद्धारः कालस्तदुच्चारः ।
उत्पत्तिस्थानं तद्यत्नो रूपं स्थितिस्थानम् ॥१५९॥
आकारः स्वं रूपं विभाव्यमर्थोऽन्तरङ्गाणि ।

भावार्थ– श्रीविद्या मन्त्र के वर्णों का उद्धार तथा उसका उदय स्थान, प्रयत्न, रूप, स्थिति स्थान, आकार रूप में उसका स्वयं रूप तथा भावना युक्त अर्थ ये सब विद्या के अन्तर अङ्ग हैं ॥१५९॥

टीका– श्रीविद्या की वर्ण सीमा अठावन संख्या वर्णों की है। उद्धार 'क्रोधीशः श्रीकण्ठारूढः' इत्यादि प्रकार से कहा गया है। उसका काल तीन लव कम इकत्तीस मात्रा है। एक लव कम उन्तीस मात्रा उसका उच्चारण काल है। उच्चारण को 'इत्येवं वर्णानाम्' इत्यादि साढे तीन श्लोकों में कहा है। उत्पत्ति स्थान 'कण्ठे च कण्ठतालुनि' आदि द्वारा कहा गया है। प्रयत्न बाह्य और अन्तर रूप से कहा है। रूपादि त्रयम् 'प्रलयाग्निनिभम्' इत्यादि श्लोकों से कहा है। स्वं रूपम् 'व्यष्टिसमष्टि विभेदात्' इत्यादि श्लोकों द्वारा कहा है। उसकी अवस्था पञ्चक आदि से भावना का रूप बताया है। अर्थ गायत्री आदि रूपों में कहा है। यह विद्या के अन्तर अङ्ग हैं जो साधक को अवश्य जानना चाहिए।।

ऋषयश्छन्दोदैवतविनियोगा बीजशक्तिकीलानि ॥१६०॥
न्यासा ध्यानं नियमाः पूजादीनि बहिरङ्गाणि।
बाह्यान्यङ्गानि पुनः प्रायो लोके प्रसिद्धकल्पानि ॥१६१॥

भावार्थ– ऋषि, छन्द, देवता, विनियोग, बीज, शक्ति, कीलक, न्यास, ध्यान तथा नियम इत्यादि पूजा के बहिरङ्ग हैं। यह पूजा के बहिरङ्ग प्रायः लोक प्रसिद्ध हैं ॥१६०॥, ॥१६१॥

टीका– ऋषियों–हयग्रीवादि, छन्द–पंक्त्यादि, देवता–त्रिपुर सुन्दरी, विनियोग– जो इष्ट को देनेवाला है, बीज-वाग्भव आदि, शक्ति–परा आदि, कीलक–कामराज आदि, न्यास–ऋष्यादि न्यास जाल, ध्यान– 'अरुणां करुणातरङ्गिताक्षीम्' इत्यादि द्वारा कहा गया है। नियम– गन्ने के भक्षण का त्याग, संकल्प आदि, पूजा–पात्रादि साधनादि तथा शांतिपाठादि (जो नित्याओं के भेद से तीन प्रकार के हैं तथा परादि भेद से भी तीन प्रकार के है और केवलादि भेद से पाच प्रकार के हैं।) एवं आदि शब्द से होम, तर्पण आदि को समझ

लेना चाहिए । यह बहिरअङ्ग आवश्यक हैं । यह कल्प प्रायः अधिक प्रसिद्ध है । कल्प प्रत्यय है अर्थात् वरिवस्यारहस्य इन बाह्य अङ्गों पर अधिक विचार नहीं करता है ॥

दुर्लभमान्तरमङ्गं प्रायोऽन्तर्मुखजनैस्तदादृत्यम् ।
तोषायैषा तेषामतः प्रदिष्टा रहस्यवरिवस्या ॥१६२॥

भावार्थ– प्रायः श्री विद्या के अंतरङ्ग भाव अन्तरमुख लोगों द्वारा ही आचरित होते हैं, अर्थात् उन्हीं को इसे जानने की आवश्यकता है । इसलिए उन्हीं अन्तरमुख लोगों की तुष्टि के लिए यह वरिवस्या रहस्य विस्तार से कहा है ॥१६२॥

टीका– अन्तरमुख चित्त वाले जो विषयों से अनासक्त जन हैं, उन्हीं के द्वारा उपदिष्ट विद्या का पथ यहां उपदिष्ट है । यह प्रयोग कालिदास जैसा है ॥

एतामुत्सृज्य जडैः क्रियमाणा बाह्यऽम्बरोपास्तिः ।
प्राणविहीनेव तनुर्विगलिंतसूत्रेव पुत्तलिका ॥१६३॥

भावार्थ– इसका त्याग करके जो जड लोग क्रिया में रत केवल बाह्य आडम्बर की उपासना करते हैं, उन्हें ऐसे समझना चाहिए जैसे एक पुतली जो प्राण विहीन होकर स्थित है, तथा उसके अन्दर का सूत्र गलित हो चुका है, उसकी उपासना है ॥१६२॥

टीका– बाहय आडम्बर उसकी पूजा का अङ्ग विस्तार है । इसका प्राण-सूत्र अन्तरअङ्ग भाव है । इसके अभाव में उसमें कार्य करने की क्षमता नहीं है, इस प्रकार की उनकी उपासना है ॥

बीजान्मूलं मूलात् क्षेत्रस्यान्तः स्थबाहयविस्तारौ ।
यद्यप्यनयोः साम्यं प्राधान्यमथापि चान्तरङ्गस्य ॥१६४॥

भावार्थ– बीज से मूल होता है । मूल से क्षेत्र का अन्तर और बाहय विस्तार होता है । यद्यपि भीतर और बाहर उसके दोनों ही अङ्ग समान हैं, परन्तु उसके अन्तर अङ्ग को अधिक प्रधानता देनी चाहिए ॥१६४॥

टीका– बीज कामकला रूप है । उसीसे उसके धान्यादि रूप ध्यानादि होते हैं । वृक्ष पाद, मूल कें समान ही मन्त्र है । उसका क्षेत्र शरीर का विस्तार – केदार आदि तथा मानव शरीरादि हैं। यद्यपि उसके बहिर और अन्तर अङ्ग दोनों समान ही हैं जो एक ही बीज से निकले विशेष रूप हैं । तथापि अन्तर अङ्ग के नाश से वृक्ष बाहृय अंग सहित नष्ट हो जाता है परन्तु बाहृय अङ्ग मात्र के नष्ट होने से वृक्ष का अन्तर अङ्ग नष्ट नहीं होता यह बात प्रसिद्ध है ॥

संगति– यद्यपि अत्यन्त आवश्यकतर बातें इस ग्रन्थ में कही गई हैं तथापि पाण्डित्य के बल से इस ग्रन्थ का अवलोकन तथा गुरु की अपेक्षा स्वीकार न करके इसका अध्ययन पाप है।

सद्गुरुकुलतः कृपया लब्धा कामानियं सूते ।
निजबुद्धिमात्रजन्या पापं कन्या यथा स्वीया ॥१६५॥

भावार्थ– यह वरिवस्या रहस्य सद्गुरु परम्परा से गुरु कृपा द्वारा प्राप्त होने पर साधक को मनवांछित कामनाओं को देता है परन्तु अपनी ही बुद्धि मात्र से जान लेने पर यह पाप की ओर ले जाता है, जैसे अपनी कन्या स्वयं भोग्य नहीं होती है ॥१६५॥

टीका– तन्त्रराज में जो विशेष लक्षण सद्गुरु के कहे हैं. उन विशिष्ट 'सुन्दरः सुमुखः स्वस्थः' इत्यादि गुणवाले गुरुदेव से इसे प्राप्त करना चाहिए । इसे कृपा से या सेवाजनित प्रसाद रूप में लेना चाहिए । क्योंकि –

'पारंपर्यविहीना ये ज्ञानमात्रेण गर्विताः ।
तेषां समयलोपेन विकुर्वन्ति मरीचयः ॥'

अर्थात् जो अपने ज्ञान मात्र के गर्व में बिना परम्परा के इसको जानते हैं वह समयानुसार धातु विकार को प्राप्त होकर मरते हैं । इस वचन के अनुसार समझना चाहिए कि मरीचियाँ–डाकिनी आदि उनमें धातु विकार की विकृति करके उन्हें मारती हैं । कन्या पक्ष में श्वसुर ही सद्गुरु होता है । जैसे कन्या का पिता वर का श्वसुर

होकर वर को कन्या का दान करता है, वही कन्या वर की पत्नी बनकर भोक्ता भोग्य के परस्पर सम्बन्ध में स्थित होकर उसके लिए धर्मार्थ जीवन की सङ्गिनी होकर सुखदाई होती है। इसी प्रकार श्रीगुरु जो अपनी परम्परागत विद्या का दान करता है वही विद्या शिष्य के लिए हितैषी होकर उसका सम्पूर्ण कल्याण सिद्ध करती है। यही गुरु का श्वसुर भाव कथन है ॥

संगति– आदि में मङ्गल हो, मध्य में मङ्गल हो और अन्त में मङ्गल हो इस प्रार्थना से शास्त्र का उपसंहार करते हैं। अस्तु, इस वचन से मङ्गल कामना करते हैं।

अकथासनं ह–लक्षान्तरं समासाद्य मामकं ज्ञानम् ।
मामकमेवानन्दं मह्यं ददतो जयन्ति गुरुचरणाः ॥१६६॥

भावार्थ– श्रीगुरुचरणों की सदा जय हो जो अ, क, थ रूप त्रिकोणाकार आसन पर विराजमान हैं तथा ह, ल, क्ष जिनके तीनों त्रिकोणों के कोणों में लिखित है, वह हमारे ऊपर प्रसन्न होकर हमें ज्ञान प्रदान करें एवं आनन्द भी प्रदान करें ॥१६६॥

टीका– जितना भी कहने में आने वाला कथन है तथा मन और वाणी का विषय है वह सब अकथ ही है। अर्थात् वाणी की सीमा से ही सब आक्रान्त हैं, यही निश्चयपूर्वक जानना चाहिए। लक्ष्य जो लक्षणा से अन्तर में जितना भी अवकाश रूप उसका भाव है, वही सहस्रार पद्म में कर्णिका के मध्य अ क थ त्रिकोण में है। इस त्रिकोण में जो सोलह वर्ण उसकी तीन भुजाओं में हैं उसके मध्य में ह, ल, क्ष के बीच शास्त्रों में श्रीगुरु का ध्यान कहा गया है। वही उसका आसन है जो मेरी आत्मा से अभिन्न ही है।

गुरुचरणैकसहायो भास्कररायो जगन्मातुः ।
वरिवस्यातिरहस्यं वीरनमस्यं प्रजग्रन्थ ॥१६७॥

भावार्थ– भास्करराय ने श्री गुरुचरणों की सहायता से श्री जगन्माता का यह वरिवस्या रहस्य अर्थात् पूजा के रहस्य का वर्णन

किया है। जिसको वीर लोग नमस्कार करते हैं। वीर वह है जो अपने 'इदम्' को अपने 'अहम्' में लीन करके अपने आप में स्थित है ॥१६७॥

टीका– 'वीर' जैसा कि परापञ्चशिका में प्रसिद्ध है उन्हें कहते हैं जिन्होंने अपने 'इदम्' रूप शत्रु का नाश कर दिया है। वह सर्वथा वन्दनीय है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

श्री पीताम्बरा पीठ

ह्लीं

दतिया (म.प्र.)